

www.samajdharmevamdarshan.org.in

ISSN 0974 – 9764

अभिनिर्णीत

समाज धर्म एवं दर्शन

संयुक्तांक

वर्ष 44, अंक 1-4
अप्रैल 2025-मार्च 2026
चैत्र – फाल्गुन, संवत् 2082

प्रधान-सम्पादक

जटाशङ्कर

सम्पादक

ऋषि कान्त पाण्डेय

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान

117सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002

लेख-सूची

	पृष्ठ संख्या
संगति	iii-iv
स्फुट विचार	v-xi
1. परलोकेशनरी क्रिया-दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियां - ऋषि कान्त पाण्डेय एवं प्रियान्शु अग्रवाल	1-15
2. भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान, भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या - भीम शंकर मीना	16-22
3. सृजन का स्वप्न और असृजन का बोध: सनातनता और अजातिवाद की तात्त्विक एकरूपता का विश्लेषणात्मक अध्ययन - राजन	23-51
4. कालिदास की कृतियों में कर्मवाद - छाया	52-61
5. सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्त का समेकित चेतना-अध्ययन - अनुराग पाण्डेय	62-74
6. प्रो. संगमलाल पाण्डेय एवं लैंगिक समानता - अमित कुमार मिश्र	75-85
7. भारतीय सांस्कृतिक समरसता में लोकगीतों का प्रादुर्भाव - स्मृति त्रिपाठी	86-97
8. औपनिषदिक अद्वैतवाद का वैचारिक परिदृश्य - शारदा कुमारी	98-104
9. गीता में जनकल्याण की अवधारणा - रंजना शर्मा	105-110
10. गीता और सार्त्र के दर्शन में: नैतिकता और निर्णय - चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह	111-119
11. न्याय के राजनीतिक व दार्शनिक निहितार्थ - रूपम मिश्रा	120-123
12. त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकता: गांधी के समाज-दर्शन की दार्शनिक दृष्टि से - अजय कुमार	124-133
13. भारतीय सूफी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण - अतुल कुमार तिवारी	134-144
14. विभिन्न धर्मों का दार्शनिक विश्लेषण - किरन बडेरिया	145-151
15. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी दृष्टि - कुसुम	152-156
16. पुस्तक समीक्षा (संस्कृति, लेखक : डॉ० आलोक टण्डन) - नीरज कुमार पाण्डेय	157-159

संगति

वैश्विक स्तर पर युद्ध की विभीषिका और विनाश का कोलाहल सर्वाधिक प्रमुखता के साथ देखे जा रहे हैं। यूक्रेन और रूस के बीच युद्ध चल ही रहा था, इसी बीच ईरान के विरुद्ध इजराइल और अमेरिका का आक्रमण शुरू हो गया। खाड़ी देशों को अमेरिका का समर्थन करते हुए देखा जा रहा है। ऐसा लगता है कि धर्म-सम्प्रदाय अब मूल धारा नहीं रह गयी वरना एक इस्लामिक देश दूसरे इस्लामिक देश से संघर्ष न करता। अब अर्थ (तेल) प्रमुख रूप से सब पर नियंत्रण करता हुआ दिखाई पड़ता है। यह मानव मूल्यों में हो रहे विश्रंखलन का प्रमाण है। लौकिक संपदा प्रधान बन गयी है। गीता में वर्णित देवी सम्पत् और आसुरी सम्पत् में से आसुरी सम्पत् का प्रभुत्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है। विनाशक परिणाम के लिए मानव प्रजाति को मजबूरन तैयार रहना पड़ेगा।

प्रत्येक समस्या का समाधान तो होता ही है तब यह समस्या भी समाधान के बिना नहीं रह जाएगी। यह समाधान संरक्षण अथवा विनाश किसी भी रूप में हो सकता है। विनाशक परिणाम से बचने के लिए प्रयत्न करना सभी चिंतनशील लोगों का दायित्व है। एक दृष्टि इतिहास की ओर डालते हैं तो यह दिखाई पड़ता है कि ऐसी परिस्थितियां अनेक बार आयी हैं और कोई विवेक सम्पन्न व्यक्ति इस दुर्दशा से निकलने का मार्ग बनाता है। सबसे बड़ा संकट यह है कि भाषा के स्तर पर एक विचित्र अराजकता पैदा हुयी है। दर्शन जगत में अर्थ के अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं किन्तु ये सभी सिद्धान्त यह मानकर निर्मित हैं कि शब्द का अर्थ होता है। आज स्थिति यह है कि सबसे पहले इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो गया है कि “क्या शब्द का अर्थ होता है?”

भाषिक अराजकता को बड़ी समस्या के रूप में यहां सकारण प्रस्तुत किया गया है। कतिपय शब्दों का उदाहरण के रूप में उल्लेख किया जा रहा है। एक शब्द है ‘सनातन’। इस शब्द के अर्थ और प्रयोग को लेकर बड़ी भ्रंति व्याप्त है। एक सज्जन ने अपनी प्रखर मेधा का प्रदर्शन करते हुए मुझसे पूछा यह सनातन कहां से नया आ गया। जो सनातन है वह नया नहीं हो सकता और जो नया है सनातन नहीं हो सकता किन्तु भाषिक अराजकता में इस तरह के प्रश्न और उत्तर खूब मिल रहे हैं। दूसरा शब्द ‘विकास’ है। यह समझना कठिन हो रहा है कि इस शब्द का अर्थ

निर्धारित है या नहीं? किसी-किसी प्रयोग में यह संकेत मिलता है कि विकास का प्रयोग विनाश के अर्थ में भी हो सकता है। शब्द के परम्परागत अर्थ से अलग हटकर नवीन अर्थ प्रदान करना भाषा का दुरुपयोग है। विकास की दिशा भविष्योन्मुखी होनी चाहिए। अटल बिहारी बाजपेयी जी की यह पंक्ति आकर्षक लगती है-

वर्तमान के मोह जाल में,
आने वाला कल न भुलाएँ,
आओ फिर से दिया जलाएँ।

वर्तमान विकास पर एक सुंदर व्यंग्य का वीडियो क्लिप कभी देखा था- एक धनाढ्य व्यक्ति अपने बच्चे को कार में बैठाकर स्कूल से घर जा रहा है। ट्रैफिक पर दायें-बायें आगे-पीछे हजारों गाड़ियाँ खड़ी हैं। बच्चा चारों ओर निगाह दौड़ाकर अपने पिता से कहता है कि बड़ा होकर मैं साइकिल की दुकान खोलूँगा। पिता ने कहा- ऐसा क्यों? तो बच्चे ने जवाब दिया कि सारा पेट्रोल आपकी पीढ़ी समाप्त कर देगी। हमारी पीढ़ी के लिए सबसे अच्छा उद्योग साइकिल की दुकान होगी।

इस व्यंग्य में विचारशील व्यक्ति के लिए सोचने का एक बिंदु उभरता है। पेट्रोल के जिस संकट की ओर वह बच्चा चिंतित दिखाई पड़ा था उसकी तीव्रता का और अधिक विस्तार वर्तमान में चल रहे खाड़ी देशों के युद्ध कर रहे हैं। एक विचित्र अनिश्चितता और चिन्तमूढता में वर्तमान मानवता फंसी है। यह तो संभव नहीं है कि वर्तमान का मानव हजारों वर्षों पूर्व की जीवन शैली को अपना ले, किन्तु यह अवश्य संभव है कि अपनी आवश्यकताओं को कम करने की दिशा में एक-एक कदम आगे बढ़े। जो प्राचीन आदर्श पालन योग्य हैं उनके दिशा में कदम बढ़ाए। इसका एक उदाहरण अपरिग्रह का आदर्श हो सकता है। आंशिक रूप में ही सही, इसे अपनाना भविष्य में जीवन को संभव बनाने के लिए अनिवार्य है।

जटाशंकर
प्रधान-सम्पादक

स्फुट विचार

- रामाश्रय तिवारी

(1)

मनुष्य की शरीर एक सुदृढ़ नाव है। यह जीव को लेकर कर भवचक्र से पार पहुंचा सकती है। सही दिशा में चलकर, किनारे पहुंचने तक नाव को सुरक्षित रखने के लिए इन्द्रियां, मन और बुद्धि सहायक हैं। यह सहायक ही असंयत होने पर, विरोधी बनकर जलविहार व कुकर्म कराने लगते हैं। इनको संयत रखने के लिए विविध साधन बताये गये हैं। उनके द्वारा बुद्धि के विवेकसंपन्न होने पर, नाव किनारे पहुंचा देती है। साधनों को अपनाने के लिए उन्मुख होना सत्संग से होता है। आर्ष वाणी का श्रवण मनन व गुरुजनों या शास्त्र द्वारा बताए गये मार्ग से चलकर, चिंतन द्वारा विवेक बुद्धि जाग्रत होती है, तब मन और इंद्रिय रूपी सहायक नाव को किनारे पहुंचने तक साथ देते हैं। किनारे पहुंचने का अर्थ है जीव आत्मतत्व मात्र होकर नाव (शरीर के साथ संलग्न इंद्रिय, मन व बुद्धि) को छोड़ सकता है या प्रारब्ध के अनुसार कुछ दिन जीवन-मुक्त होकर, लोगों का मार्गदर्शन कर सकता है। शरीर पात होने पर जीव विमुक्त हो जाता है। आत्मतत्व सदैव शुद्धबुद्धमुक्त होता है। अविद्या के समाप्त होने पर जीवन-मुक्त और विदेहमुक्त जीव ही होता है। "विमुक्तश्च विमुच्यते"। कठोपनिषद् 2/2/1॥

कठोपनिषद् में रथ और रथी के रूपक से जीव की यात्रा और साधना बताई गई है। इसमें जीवात्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी, मन लगाम, इंद्रियां घोड़े और उनके विषय घोड़ों के संचरण के स्थान बताये गये हैं। आत्मा, अंतःकरण और इंद्रियों से युक्त जीव संज्ञक तत्व भोक्ता होता है।

आत्मानं रथिनं सिद्धिं शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

कठोपनिषद् --1/3/3-4

इसके आगे बताया है कि मन और बुद्धि को विवेक संपन्न और समाहित होने पर रथी जीवात्मा, शुद्ध आत्मतत्व के रूप में होकर, अपने अभीष्ट लक्ष्य पर निदिध्यस्त होजाता है।

गूढ विषय को समझाने के लिए रूपकों का सहारा लिया जाता है। उपमा और रूपक साहित्य के अलंकार मात्र नहीं हैं। यह जीवन की साधना के साथ लक्ष्य और साधन तीनों को सरल ढंग से बताने में सहायक भी है। उपनिषदों और धर्म शास्त्रों में गूढ विषय को समझाने के लिए कहीं कहीं कुछ अलंकारों और आख्यायिकाओं का प्रयोग भी किया गया है।

(2)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

गीता--18/17

अर्थात् मैंने किया, ऐसा भाव (अहंकृति का भाव) न रहे और बुद्धि प्रभावित न हो, तो पाप-पुण्य कुछ भी नहीं होते हैं। ऐसा योगी लोकहत्या करके भी बंधनग्रस्त नहीं होता है। वास्तव में, ऐसे व्यक्ति के द्वारा लोकहत्या का प्रश्न ही नहीं है। इस स्थिति का महत्व बताने के लिए अतिशयोक्ति में यह लिखा है। यह जीवन मुक्ति की स्थिति बड़ी स्पृहणीय है। मुक्त पुरुष होने के लिये मार्ग अनेक शास्त्रों में हैं जो संक्षेप में गीता में संग्रहीत हैं।

भवचक्र से मुक्त होने के लिए ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग, यह दो साधन बताये गये हैं। विरक्त व्यक्ति के लिए आर्ष वाक्यों या आत्मतत्व का चिंतन करने का उपदेश है जो ज्ञान मार्ग है और मुक्ति का साक्षात् साधन है। कर्म-क्षेत्र में रहनेवाले व्यक्ति के लिए कर्मयोग का उपदेश है जिसपर अनन्य भाव से आरूढ हो जाने पर ज्ञान मार्ग प्रशस्त हो जाता है। गीता के नवें अध्याय में अनन्य भक्ति के साथ सभी कर्मों को ईश्वरार्पण करने पर कर्मयोग शीघ्र सिद्ध होने का भी उपदेश है---

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज॥
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुच॥

इससे इंगित होता है कि कर्म करने पर पाप की संभावना रहती है किन्तु अनन्य भाव से ईश्वरार्पण करने पर उससे मुक्ति मिल जाती है। गीता का यह भक्तियोग कर्मयोग का सहायक है। यह सुगम और सरल मार्ग है जो कर्मयोग का सहायक होकर ज्ञान का भी साधक है- "यत्साख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते--"सांख्य और योग एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं। प्रस्थान भेद है।

समाज, धर्म एवं दर्शन

आज के परिवेश में अधिकांश लोगों के लिए कर्मयोग ही सर्वोत्कृष्ट साधना है। सच्चरित्र के साथ, इसकी यथाशक्ति उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती है, विपरीत फल नहीं होता है, दुर्गति कभी नहीं होती है। इससे जन्म-मरण के महान भय से रक्षा हो जाती है। इस जन्म में योगसिद्धि न होने पर आग्रिम जन्म में योगभ्रष्ट साधक और आगे जाता है। वह उत्तरोत्तर विकास करता है। पहले के अनेक जन्मों में सिद्धि के सन्निकट पहुंचा हुआ पुरुष इसी जन्म में परमपद को प्राप्त कर सकता है। यही गीता में लिखा है -----

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ 2/40

पार्थ नैवेह नामुत्र विनशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥ 6/40

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥6/45

गीता का अध्ययन करने वालों के लिए उपर्युक्त बातें स्पष्ट हो जाती हैं।" किन्तु, शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिए"--यह नियम है। अतः, स्मरण कराने के लिए यह प्रस्तुति है।

(3)

वर्तमान समय भूत और भविष्य को भी प्रशंसनीय बना सकता है। सांसारिक दृष्टि से वर्तमान में समर्थ बनने वाले व्यक्ति के दोष को कोई नहीं कहता है। समर्थ के दोष छिप जाते हैं। उसके खानदान के भूत और भविष्य के दोष भी छिप जाते हैं। भविष्य उसके नाम से ही सम्मानजनक हो जाता है। समर्थ के नहीं दोष गोसाईं ॥रवि पावक सुरसरि की नाईं॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वर्तमान का पवित्र होना भूतकाल के भी शुभत्व का प्रमाण है। कारण और कार्य में संबन्ध होता है। अतः उसके भविष्य का और उज्वल होना भी अवश्यभावी है। शिशुपाल बध महाकाव्य में माघ कवि ने यही भाव अभिव्यक्त किया है --हरत्यघः संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतैः शुभैः। शरीरभाजां भवदीय दर्शनम् व्यनक्ति कालत्रितयेपि योग्यताम्॥ नारद के दर्शन होने पर कृष्ण ने यह कहा है। अपने कुल को विशिष्ट बनाने के लिए वर्तमान में महत्वपूर्ण कार्य, शुभ आचरण करने की प्रेरणा इससे मिलती है।

वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

(4)

शरीर और वाणी से निर्दोष रहने वाले लोग अच्छे कहे जाते हैं किन्तु पूर्ण विश्वसनीय नहीं होते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वप्न में विचलित हो सकता है क्योंकि उस समय बुद्धि कार्य नहीं करती है। जाग्रत में वह अवांछित विचार को नहीं रोक पाता है, अतः खिन्न होता है। ऐसे लोगों का विवेक प्रबल होता है जो जाग्रत अवस्था में मानसिक विचलन से होने वाले कार्य से विरत करने में सफल हो सकता है। किन्तु इतनी सफलता में संतुष्ट नहीं होना चाहिए। कुसमय में तीव्र मानसिक संवेग को रोकने में असफलता भी मिल सकती है। बेलगाम घोड़े जैसा मन बड़ा प्रबल होता है। यह बाह्य इन्द्रियों का प्रेरक और अंतःकरण में विचार के प्रवेश का द्वार है। "यस्मान्न ऋते किंचन् कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु"-यजुर्वेद। जिसके बिना कोई कर्म नहीं होता है, वह मन शिव संकल्प रहे। वेद में निहित इस कामना के अनुसार मन को शिव संकल्प रखने का प्रयास करना पड़ेगा।

मनसा- वाचा-कर्मणा पवित्र रहने वाले साधु प्रकृति के होते हैं। वे ही पूर्ण विश्वसनीय होते हैं। वे स्वप्न में भी निर्दोष रहते हैं। एकरस रहने पर, अच्छा विचार ही उनका स्वभाव होजाता है। मन के प्रबल और विवेक से दुर्बल लोग अच्छा कार्य नहीं करते हैं। वे समाज के लिए कष्टकर होते हैं। बुरे संकल्प के साथ तपस्या का परिणाम भी बुरा होता है। शिव संकल्प वाले मन और प्रबल बुद्धि-विवेक से युक्त व्यक्ति महान कार्य कर सकता है। वह युग पुरुष हो सकता है। यह सात्विक संकल्प से की गई तपस्या का फल है। ऐसे मन से साध्य तप की महिमा अपरिमेय है। इसकी आकांक्षा शुभ है।

मन को एकाग्र और बुद्धि के वश में करने के लिए एक तत्व का मनन और चिंतन उत्कृष्ट साधन कहा है। उसे नियंत्रित और प्रबल करने के लिए प्राणायाम रूपी तप भी विशिष्ट साधन बताया गया है। गीता और योगशास्त्र में अभ्यास और वैराग्य (योगशास्त्र सूत्र 1/13,15 में परिभाषित) को विश्वसनीय साधन कहा है। साधकों ने अपने अनुसार और भी साधन सुझाया है। रुचि और क्षमता के अनुसार मनोनिग्रह कर के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से सफलता मिलती है।

(5)

चतुर्थाश्रम में प्रवेश पूर्व जन्म के पुण्य व ईश्वर कृपा से होता है। उस अवस्था में गृह प्रपंच से वैराग्य हो सके तो परलोक को संवारने का निर्विघ्न अवसर मिलता है। मनु महाराज की व्यथा --

होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथ पन।
हृदय बहुत दुख लाख, जनम गयउ हरि भजन बिनु॥

समाज, धर्म एवं दर्शन

तब--

बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा हरिहित आप गवन बन कीन्हा।।

-- राम चरित मानस --मनु सतरूपा का वैराग्य।

आध्यात्मिक सफलता के लिए वैराग्य शुभ लक्षण है। कहा है - "यदह एव विरजेत् तदह एव प्रब्रजेत्"। यद्यपि आकस्मिक वैराग्य का स्थाई होना कठिन है। सही वैराग्य होने पर किसी भी अवस्था में संन्यास लिया जा सकता है। चतुर्थ आश्रम में पहुंच कर भी वैराग्य न होने पर परलोक तो नष्ट होता ही है, यह लोक भी भय, रोग, शोक, वियोग, अपमान आदि से कष्टमय होना बहुत संभावित है। वैराग्य का अर्थ दाढ़ी-मूँछ बढाना, गैरिक वस्त्र और गृहत्याग नहीं है। अनारंभ तथा संबंधों और कामनाओं के त्याग के साथ किसी समर्थ वृद्ध गुरु की शरण में जाना और उनके उपदेश के अनुसार आचरण करना वैराग्य का फल है। वैराग्य के साथ, असंग और अकाम रहकर स्वयं विद्वद्दीक्षा लेना और श्रेयस्करी साधना करना भी प्रशस्त संन्यास है। वैराग्य एकाएक लेना कठिन है। धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा शनैः शनैः विषयों से उपरति ली जा सकती है। कहा भी है - "शनैःशनैरुपरमेत् बुद्ध्या धृति ग्रहीतया" -गीता।

वैराग्य की महिमा और भी है। वैराग्य होने पर, इन्द्रियनिग्रह के साथ, सदाचार पूर्वक, घर में रहना भी तपस्या है। राग रह जाने पर वन में भी दोष पैदा होते हैं। यही कहा है -

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

- हितोपदेश ।

पूर्व उप-परिवहन आयुक्त
उत्तर प्रदेश

परलोकेशनरी क्रिया : दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियाँ

ऋषि कान्त पाण्डेय

प्रियान्शु अग्रवाल

भाषा दर्शन का प्रमुख प्रश्न सदैव यह रहा है कि शब्द मात्र सूचना देने तक सीमित नहीं है, अपितु वे कार्य संपादन भी करते हैं। प्रत्येक वचन चाहे वह साधारण प्रतीत हो, अपने अंदर एक ऐसी संपादनात्मक शक्ति निहित रखता है, जो व्यक्ति के व्यवहार, भावनाओं और सामाजिक संबंधों को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। इस विचार को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय जे०एल० आस्टिन को है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति *How to Do Things with Words* में वाक्-क्रिया सिद्धांत (Speech Act Theory) को प्रतिपादित किया जिसके अनुसार भाषा केवल “कुछ कहने” (Saying something) का माध्यम नहीं, बल्कि “कुछ करने” (Doing something) की प्रक्रिया भी है, अर्थात् प्रत्येक वचन सदैव किसी न किसी क्रिया को संपादित करता है। इस कारण उनका मानना है कि प्रत्येक वाक् ही एक क्रिया है। इसके साथ ही उन्होंने इस सिद्धांत के अंतर्गत वाक्-क्रिया के तीन स्तरों क्रमशः लोकेशनरी क्रिया (Locutionary Act), इलोकेशनरी क्रिया (Illocutionary Act) एवं परलोकेशनरी क्रिया (Perlocutionary Act) का विवेचन किया है। सामान्यतः लोकेशनरी क्रिया कुछ ‘कहने की क्रिया’ (Of saying) है और जब हम कुछ कहते हैं तो इसमें सुनिश्चित ध्वनि, व्याकरणतः उचित शब्द एवं सुनिश्चित संदर्भ व बोध का उच्चारण समाहित होता है, जिसे आस्टिन ने क्रमशः फोनेटिक (Phonetic), फेटिक (Phatic) एवं रेटिक (Rhetic) क्रिया से संबोधित किया। इसके अतिरिक्त जब हम कुछ ‘कहने की क्रिया’ करते हैं, तो ‘कहने की क्रिया’ के साथ-साथ हम ‘कहने में क्रिया’ (In saying) को भी संपादित करते हैं, यथा- ‘आगे रास्ते में खतरनाक मोड़ है’ वचन कहने की क्रिया में लोकेशनरी क्रिया संपादित हो रही है, लेकिन साथ ही हम कहने में क्रिया अर्थात् श्रोता को चेतावनी या सूचना भी दे सकते हैं एवं इस तरह चेतावनी या सूचना देने में हम इलोकेशनरी क्रिया का भी संपादन करते हैं। वहीं परलोकेशनरी क्रिया ऐसी क्रिया है, जिसके माध्यम से वक्ता

अपने वचन द्वारा श्रोता पर किसी प्रभाव का संचार करता है। यही प्रभाव भाषा की वास्तविक सामाजिक-मानसिक शक्ति को प्रकट करता है। परंतु, इस स्तर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह न तो पूर्णतः भाषाई नियमों से नियंत्रित है, न ही केवल वक्ता के अभिप्राय से। इस कारण परलोकेशनरी क्रिया भाषा दर्शन में एक जटिल और विवादास्पद अवधारणा बन गई है , अतः इसकी अवधारणा का स्पष्ट विवेचन करना अत्यंत आवश्यक है।

आस्टिन का मत है कि जब हम 'कहने की क्रिया' अर्थात् लोकेशनरी क्रिया के साथ 'कहने में क्रिया' अर्थात् इलोकेशनरी क्रिया को संपादित करते हैं, तो ऐसा करने में हम 'कहने के द्वारा' (By saying) भी कोई न कोई क्रिया अवश्य संपादित करते हैं और इसे ही परलोकेशनरी क्रिया कहा जाता है। प्रायः हम कुछ कहने के द्वारा दर्शक या श्रोता के विचारों, भावनाओं, निर्णयों एवं कृत्यों पर निश्चित परिणामी प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, जिसे न तो लोकेशनरी क्रिया न ही इलोकेशनरी क्रिया कहा जा सकता है। इसीलिए आस्टिन ने इसे परलोकेशनरी क्रिया से संबोधित किया है। उनके अनुसार, "कुछ कहने के द्वारा...सामान्यतः, श्रोताओं, वक्ता या अन्य व्यक्तियों की भावनाओं, विचारों या कृत्यों पर कुछ परिणामी प्रभाव उत्पन्न होंगे...हम इस तरह की क्रिया के सम्पादन को 'परलोकेशनरी' क्रिया का सम्पादन और संपादित क्रिया को...'परलोकेशन' कहेंगे" (Saying something will...normally, produce certain consequently effects upon the feelings, thoughts, or actions of the audience, or of the speaker, or of other persons....We shall call the performance of an act of this kind the performance of a 'perlocutionary' act, and the act performed...a 'perlocution'.)¹ वास्तव में जब हम परलोकेशनरी क्रिया का संपादन करते हैं, तो हम सदैव श्रोता के भविष्य के कृत्यों की कल्पना करते हैं। इस रूप में हम कुछ कहने के द्वारा श्रोता को सहमत, गुमराह, उकसा एवं अचंभित आदि कर सकते हैं और यदि हम ऐसा करने में सफल होते हैं, तो परलोकेशन का उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा। अतएव, परलोकेशनरी क्रिया में परिणाम महत्वपूर्ण होता है कि वक्ता ने दर्शक के मन पर अर्थात् विचार एवं भावना आदि पर क्या प्रभाव उत्पन्न किया अथवा वास्तविकता में क्या परिणत हुआ, यथा- कोई 'मेरी बिल्ली पालतू नहीं है' वचन कहने के द्वारा श्रोता को अचंभित कर सकता है या फिर इसे नजदीक से जाकर दुलार न करने के लिए राजी कर सकता है।

यद्यपि संभव है कि परलोकेशनरी क्रिया किसी विशेष उद्देश्य, अभिप्राय एवं अभिकल्पना से संपादित की गई हो, लेकिन वांछित परिणाम की प्राप्ति न हो। इस रूप में जब उक्त वचन कहने में दर्शक या श्रोता सहमत या अचंभित नहीं होता है,

तो सहमत करने या अचंभित करने की परलोकेशनरी क्रिया अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल हो सकती है। प्रत्युत, परलोकेशनरी क्रिया के उद्देश्य एवं परिणाम पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। इसी दृष्टि से आस्टिन लिखते हैं, “परलोकेशनरी क्रिया या तो परलोकेशनरी उद्देश्य की उपलब्धि या परलोकेशनरी परिणाम का उत्पादन हो सकती है” (The perlocutionary act may be either the achievement of a perlocutionary object or the production of a perlocutionary sequel.)¹² जब हम किसी को ‘यह कुत्ता पागल है’ जैसा कोई वचन कहकर सचेत करना चाहते हैं, तो इस वचन में परलोकेशनरी उद्देश्य ‘सचेत करना’ (Alert) है, जबकि परलोकेशनरी परिणाम उसे यह चेतावनी देना (Warning) है कि कुत्ते से दूर रहो। माना किसी कारणवश परलोकेशनरी उद्देश्य विफल हो जाता है, यथा- श्रोता बहरा है या काफी दूर खड़ा है इत्यादि, लेकिन परिणाम प्राप्त हो जाता है अर्थात् श्रोता किसी तरह पहचान जाता है कि कुत्ता खतरनाक हो सकता है या फिर कुत्ते को देखकर वह डरता हो आदि, इसलिए श्रोता स्वयं कुत्ते से दूर चला जाता है। ऐसी स्थिति में भी परलोकेशनरी क्रिया सफलता से संपादित होगी, क्योंकि किसी तरह से वक्ता ने परिणामी प्रभाव उत्पन्न किया है, यथा- इशारा करके अर्थात् अशाब्दिक रूप से। अब माना उक्त स्थिति के विपरीत घटित हो जाता है अर्थात् परलोकेशनरी उद्देश्य सफलता से संपादित हो रहा हो, किंतु परलोकेशनरी परिणाम प्रभावी न हो, यथा- श्रोता ने सुन लिया है, लेकिन वह जानवरों का डॉक्टर है इसलिए वह दूर नहीं भागता है इत्यादि। ऐसी स्थिति में हमारी परलोकेशनरी क्रिया सफलतापूर्वक संपादित नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि परलोकेशनरी क्रिया का अनिवार्य लक्षण परिणामी प्रभाव उत्पन्न या प्राप्त करना है चाहे वह शाब्दिक रूप से हो या फिर अशाब्दिक रूप से हो, यथा- वक्ता कोई नेता है एवं किसी समुदाय विशेष, जैसे- मुस्लिम समुदाय को भड़काकर दंगे करवाना चाहता है इसलिए वह कहता है कि ‘हम इनको गिन-गिनकर सबक सिखाएंगे, हम मंदिर वहीं बनाएंगे’, लेकिन किसी कारणवश हिन्दू एवं मुस्लिम समुदाय इसे नजरअंदाज कर देते हैं। परंतु अगले दिन जब वे मंदिर या मस्जिद जाते हैं, तो उन्हें वहाँ कुछ आपत्तिजनक शब्द लिखा मिलता है जिसके फलस्वरूप हिंदू-मुस्लिम दंगे भड़क उठते हैं। ऐसी स्थिति में वक्ता अर्थात् नेता शाब्दिक के साथ-साथ अशाब्दिक ढंग का प्रयोग करके परिणामी प्रभाव अर्थात् दंगा करवाने में सफल रहा, तो यहाँ परलोकेशनरी क्रिया सफलता से संपादित होगी। इसी कारण आस्टिन ने उद्धोषित किया, “यह परलोकेशनरी क्रियाओं का लक्षण है कि प्राप्त प्रतिक्रिया या परिणाम अतिरिक्त रूप से या पूर्णतः गैर-लोकेशनरी अभिप्रायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है... यहाँ तक कि समझाने, राजी करने, आज्ञा मानने एवं विश्वास दिलाने की

[4]

परलोकेशनरी क्रिया : दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियाँ

स्थितियों में भी, हम अशाब्दिक रूप से प्रतिक्रिया प्राप्त कर सकते हैं” (It is characteristic of perlocutionary acts that the response achieved, or the sequel, can be achieved additionally or entirely by non-locutionary means...Even in the cases of convincing, persuading, getting to obey and getting to believe, we may achieve the response non-verbally...)³ इसके अतिरिक्त आस्टिन परलोकेशनरी क्रिया को अधिक स्पष्ट करने के क्रम में इलोकेशनरी क्रिया से इसके भेद का भी विवेचन करते हैं जो कि निम्नवत है-

i) सर्वप्रथम, इलोकेशनरी क्रिया कुछ कहने में निश्चित शक्ति द्वारा संपादित होती है, जबकि परलोकेशनरी क्रिया का संपादन कुछ कहने के द्वारा निश्चित प्रभाव की प्राप्ति पर होता है। आस्टिन के अनुसार, “...इलोकेशनरी क्रिया जिसमें कुछ कहने में निश्चित शक्ति होती है; परलोकेशनरी क्रिया जिसमें कुछ कहने के द्वारा निश्चित प्रभाव प्राप्त करना निहित होता है” (...the illocutionary act which has a certain force in saying something; the perlocutionary act which is the achieving of certain effects by saying something.)⁴

ii) इलोकेशनरी क्रिया परंपरागत होती है, जबकि परलोकेशनरी क्रिया परंपरागत नहीं हो सकती है। चूँकि इलोकेशनरी क्रिया को सुस्पष्ट संपादनात्मक वचन, जैसे- ‘मैं तुम्हें चेतावनी देता हूँ कि’ (I warn you that), ‘मैं तर्क देता हूँ कि’ (I Argue that) आदि के रूप में व्यक्त किया जाता है, इसलिए इसे परंपरागत कहा जाता है। परंतु परलोकेशनरी क्रिया को इस रूप में अर्थात् सुस्पष्ट संपादनात्मक वचन के रूप में नहीं व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि हम यह नहीं कह सकते हैं कि ‘मैं तुम्हें चौंकाता हूँ’ (I alarm you that) या ‘मैं तुम्हें आश्चर्यचकित करता हूँ कि’ (I surprise you that) या ‘मैं तुम्हें राजी करता हूँ कि’ (I convince you that) आदि इसलिए इसे परंपरागत नहीं स्वीकार किया जा सकता है। आस्टिन के शब्दों में, “इलोकेशनरी क्रियाएं परंपरागत क्रियाएं हैं: परलोकेशनरी क्रियाएं परंपरागत नहीं हैं” (Illocutionary acts are conventional acts: perlocutionary acts are not conventional.)⁵

iii) इलोकेशनरी क्रिया परंपरागत के साथ-साथ अशाब्दिक भी होती है, जबकि परलोकेशनरी क्रिया परंपरागत नहीं होती है, बल्कि मात्र अशाब्दिक होती है। इस रूप में लोकेशनरी एवं परलोकेशनरी दोनों क्रियाएं अशाब्दिक होती हैं। परंतु अशाब्दिक इलोकेशनरी क्रिया का सफल संपादन तब तक नहीं पूर्ण होगा जब तक यह परंपरागत न हो, जैसे- हम लाल झंडा दिखाकर किसी को चेतावनी दे सकते हैं, क्योंकि लाल रंग परंपरागत रूप से खतरे का सूचक है, जबकि अशाब्दिक

परलोकेशनरी क्रिया का सफल संपादन गैर-परंपरागत रूप से परिणामी प्रभाव उत्पन्न करके किया जाता है, यथा- हम किसी को धीरे से छड़ी घुमाकर राजी कर सकते हैं, छड़ी घुमाना किसी भी रूप में परंपरागत क्रिया नहीं है। यद्यपि परंपरागत क्रियाओं का प्रयोग परलोकेशनरी क्रिया को लाने के (Bring off) लिए किया जा सकता है। आस्टिन के अनुसार, “दोनों प्रकार की क्रियाएं संपादित की जा सकती हैं...चेतावनी देने की इलोकेशनरी क्रिया या समझाने की परलोकेशनरी क्रिया...अशाब्दिक रूप से लाई जा सकती हैं; लेकिन...किसी इलोकेशनरी क्रिया को...एक परंपरागत अशाब्दिक क्रिया होनी चाहिए: लेकिन परलोकेशनरी क्रिया परंपरागत नहीं है” (Acts of both kind can be performed...the illocutionary act of warning or the perlocutionary act of convincing...brought off non-verbally; but...an illocutionary act...must be a conventional non-verbal act: but perlocutionary acts are not conventional.)⁶

iv) इलोकेशनरी क्रिया अभिप्रायात्मक होती है, जबकि परलोकेशनरी क्रिया गैर-अभिप्रायात्मक या अनभिप्रायात्मक भी हो सकती हैं अर्थात् परलोकेशनरी क्रिया अभिप्रायात्मक के साथ-साथ गैर-अभिप्रायात्मक ढंग से भी संपादित हो सकती हैं, यथा- ‘मैदान में सांप है’ कहने के द्वारा वक्ता चेतावनी देना चाहता है और श्रोता वहाँ न जाने के लिए राजी हो जाता है, तब परलोकेशनरी क्रिया वक्ता के अभिप्राय के अनुरूप संपादित होगी। यद्यपि जब इसी वचन को कहने के द्वारा वक्ता का अभिप्राय केवल जानकारी देना है और श्रोता वहाँ न जाने के लिए राजी हो जाता है, तो ऐसे में उसके अवगत होने के साथ ही गैर-अभिप्रायात्मक रूप से सहमत करने या राजी करने का परिणामी प्रभाव उत्पन्न हो जाता है अर्थात् परलोकेशनरी क्रिया संपादित हो जाती है। इसी कारण वार्नाक ने लिखा, “...परलोकेशनरी क्रिया...अनभिप्रायात्मक रूप से संपादित की जा सकती है...इसके विपरीत, यह कहना उचित लगता है कि इलोकेशनरी क्रिया अनभिप्रायात्मक रूप से संपादित नहीं की जा सकती है” (...the perlocutionary act...may be performed unintentionally...It seems right to say, by contrast, that the illocutionary act cannot be unintentionally performed.)⁷

v) इलोकेशनरी क्रिया का संपादन तब होता है, जब श्रोता इसे सुनिश्चित ढंग से समझे अर्थात् इलोकेशनरी क्रिया में ‘मेरा क्या अभिप्राय है’ महत्वपूर्ण होता है। जबकि परलोकेशनरी क्रिया का सफल संपादन तब होता है, जब वास्तव में श्रोता की भावनाओं, विचारों, विश्वासों आदि में परिवर्तन उत्पन्न होता है अर्थात्

[6]

परलोकेशनरी क्रिया : दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियाँ

परलोकेशनरी क्रिया में 'वास्तव में क्या परिणाम निगमित हुआ' महत्वपूर्ण होता है। इसी दृष्टि से आर०के० पाण्डेय लिखते हैं, "इलोकेशनरी क्रिया मेरा क्या अभिप्राय है की एक स्थिति है, जबकि, परलोकेशनरी क्रिया वास्तव में क्या घटित हुआ की एक स्थिति है" (...the illocutionary act is a matter of what I mean, whereas, perlocutionary act is a matter of what actually happened.)।⁸

इस प्रकार उक्त विमर्श से प्रतीत होता है कि आस्टिन ने परलोकेशनरी क्रिया का विवेचन इलोकेशनरी क्रिया के साथ तुलना करने के उद्देश्य किया है। वे यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि वक्ता के लिए परलोकेशनरी क्रिया का संपादन करना क्या है, किंतु ऐसा करने में परलोकेशनरी क्रिया के प्रकारों से संबंधित संभावना उपेक्षित रह जाती है। प्रायः इससे उनके सिद्धांत को समझने में भ्रम होता है कि परलोकेशनरी क्रिया वाक्-क्रिया के लिए प्रासंगिक नहीं है। इसीलिए परलोकेशनरी क्रिया से संबंधित तीन समस्याएं संज्ञान में आती हैं जिनका विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम समस्या है कि क्या वास्तव में परलोकेशनरी उद्देश्य इलोकेशनरी क्रिया से संबंधित है? दूसरी समस्या यह है कि क्या परलोकेशनरी क्रिया की कोई सीमा है? तीसरी समस्या यह है कि क्या परलोकेशनरी क्रिया को वक्ता का वास्तविक कृत्य कहा जा सकता है? चूँकि उक्त सभी समस्याएं अत्यंत जटिल हैं, इसलिए हम इनका एक-एक करके समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं-

i) जब हम प्रथम प्रश्न पर गहनता से विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि इस समस्या का आरंभ एच०पी० ग्राइस (1957) के अर्थ के विश्लेषण करने से तथा उसके पश्चात् स्टीफन शिफर (1972) के द्वारा ग्राइसियन अर्थ के द्वारा इलोकेशनरी क्रिया के विश्लेषण करने से होता है। उनका मानना है कि अर्थ के मूल में श्रोता पर प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से अभिप्राय निहित होता है। इस अभिप्राय का उद्देश्य या तो एक विश्वास को या फिर एक क्रिया को अर्जित करना है और इन दोनों को परलोकेशनरी उद्देश्य के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। वास्तव में, इन उद्देश्यों की प्राप्ति में श्रोताओं में किसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का या व्यावहारिक प्रतिक्रिया का उत्पादन करना निहित होता है। इस रूप में ग्राइस के द्वारा विश्लेषित वक्ता का अर्थ परलोकेशन से संयुक्त प्रतीत होता है और वक्ता के अर्थ का प्रयोग इलोकेशन को सुस्पष्ट करने हेतु एक आदर्श के रूप में भी होता है। इसी कारण अनेक परवर्ती वाक्-क्रिया सिद्धांतकारों, जैसे- पी०एफ० स्ट्रासन (1964), पॉल जिफ (Paul Ziff, 1967), जे०आर० सर्ल (1969), डब्लू०पी० एल्स्टन (2000) आदि ने ग्राइसियन अर्थ के विश्लेषण की आलोचना करते हुए कई पक्षों, यथा- अर्थ

समाज, धर्म एवं दर्शन

में केवल अभिप्राय निहित होता है आदि को अस्वीकार कर दिया। यद्यपि कुछ दार्शनिकों, जैसे- टेड कोहेन (Ted Cohen, 1973) आदि ने परलोकेशनरी उद्देश्य एवं इलोकेशन के मध्य उभरते संबंध पर जोर देना अधिक महत्वपूर्ण माना। टेड कोहेन ने अपने आलेख “*Illocutions and Perlocutions*” में माना कि निश्चित परलोकेशनरी उद्देश्य निश्चित इलोकेशनरी शक्ति से प्रत्यक्षतः संयुक्त होते हैं, जबकि अन्य के संदर्भ में यह संबंध कमजोर हो जाता है। पुनश्च, वे इलोकेशनरी क्रिया के संबंध में संयुक्त परलोकेशनरी की भूमिका के अनुमोदन के पक्ष में तर्क देते हैं, जैसे- भयभीत करना धमकाने से संयुक्त है, चेतावनी सचेत करने से संयुक्त है आदि। उनके शब्दों में, “कोई परलोकेशन न केवल प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वह भी होता है जिसे मैं संयुक्त कहूँगा। संयुक्त परलोकेशन प्रत्यक्ष होते हैं, लेकिन सभी प्रत्यक्ष परलोकेशन संयुक्त नहीं होते हैं...मैं यह बताना चाहूँगा कि संयुक्त परलोकेशन को इलोकेशन से इतनी आसानी से पृथक् नहीं किया जा सकता है” (...a perlocution is not only direct, but is also what I will call associated. Associated perlocutions are direct, but not all direct perlocutions are associated...I should like to point out that associated perlocutions are not so readily distinguished from illocutions.)⁹ इस प्रकार वे मानते हैं कि इलोकेशनरी क्रिया का सफल संपादन परलोकेशनरी क्रिया पर आधारित है।

इसके अतिरिक्त शिफर के द्वारा इलोकेशनरी क्रिया का विश्लेषण यह प्रदर्शित करता है कि दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं अर्थात् विश्वास उत्पन्न करना तथा कोई क्रिया या कृत्य को उजागर करना वक्ता के अभिप्राय का प्रमुख उद्देश्य हो सकता है, जो जगत् से शब्द एवं शब्द से जगत् के मध्य अंतर के माध्यम से इसके संबंध पर जोर देता है। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि परलोकेशनरी उद्देश्य अर्थात् विश्वास उत्पन्न करना या कोई क्रिया को उजागर करना और इलोकेशनरी क्रिया की दिशा की अनुरूपता (Direction of Fit) के मध्य कोई संबंध है। ऐसा होने पर सर्ल के द्वारा विवेचित डायरेक्टिव इलोकेशनरी बिंदु (Directive Illocutionary Point) (अर्थात् किसी क्रिया के व्यवहार को निर्देशित करना) और इससे संयुक्त दिशा की अनुरूपता इलोकेशनरी क्रिया के स्थान परलोकेशनरी क्रिया का विषय हो जाएगी जो कि पूर्णतः तर्कसंगत नहीं है। इस कारण निःसंदेह इलोकेशनरी क्रिया को परलोकेशनरी क्रिया पर निर्भर स्वीकार करना आस्टिन के वाक्-क्रिया सिद्धांत की मूल धारणा के विपरीत है। चूँकि उनके वाक्-क्रिया सिद्धांत में इलोकेशनरी क्रिया वक्ता के वाक् के द्वारा परिणामी प्रभाव उत्पन्न करने से स्वतंत्र है। यही कारण है कि ग्राइस के अर्थ का विश्लेषण तथा शिफर के द्वारा इसे

इलोकेशनरी क्रिया के विश्लेषण के रूप में प्रयोग करने की दार्शनिकों के द्वारा आलोचना की गई थी, क्योंकि उन दार्शनिकों ने स्पष्ट किया है कि इलोकेशनरी क्रिया में अभिप्राय के साथ-साथ परंपरा भी निहित होती है। ध्यातव्य हो कि इसी कारण आस्टिन ने भी इलोकेशनरी क्रिया को परंपरागत तथा परलोकेशनरी क्रिया को गैर-परंपरागत क्रिया माना था और वार्नाक ने तो परलोकेशनरी क्रिया को अनभिप्रायात्मक भी माना है।

हालाँकि परलोकेशनरी क्रिया के उद्देश्य में जो प्रयास निहित होता है वह इलोकेशनरी क्रिया से संबंधित क्रिया का अंश हो सकता है। इसी दृष्टि से क्लाउस पेट्रस (Klaus Petrus, 2010) ने इलोकेशनरी क्रिया एवं परलोकेशनरी क्रिया के संबंध को नए कलेवर अर्थात् पेरीलोकेशनरी क्रिया (Perillocutionary Act) नाम दिया है। उनके अनुसार, "...हम पेरीलोकेशनरी क्रियाओं के वर्गीकरण को गठित कर सकते हैं...जो कि परोक्ष एवं प्रत्यक्ष है" (...we can formulate a typology of perillocutionary acts...which are indirect and overt.)¹⁰ उनका मानना है कि इलोकेशनरी क्रिया के माध्यम से परलोकेशनरी क्रिया का संपादन करना पेरीलोकेशनरी क्रिया है। वे पेरीलोकेशनरी क्रिया की दो विशेषताएं मानते हैं- पहला कि यह तार्किक ढंग से श्रोता को प्रभावित करने का प्रयास करती है और दूसरा कि यह स्पष्टतः संप्रेषण करने का प्रयास करती हैं। इसी कारण उनका तर्क है कि संप्रेषण हेतु इलोकेशनरी क्रिया की अपेक्षा पेरीलोकेशनरी क्रिया सर्वोत्तम है। पेट्रस ने चेतावनी देते हुए लिखा, "जो कोई भी गंभीरता से यह बनाए रखना चाहता है कि इलोकेशनरी क्रियाएं अनिवार्यतः इलोकेशनरी प्रभाव को प्राप्त करने के लिए निर्देशित होती हैं...वह न केवल इलोकेशनरी क्रियाओं के सार को गलत समझेगा, बल्कि इलोकेशनरी क्रिया को पेरीलोकेशनरी क्रिया के साथ भी भ्रमित करेगा। चूँकि इलोकेशनरी क्रिया संप्रेषणात्मक क्रियाएं नहीं हैं...बिल्कुल भी। दूसरी ओर, पेरीलोकेशनरी क्रियाएं हैं" (Whoever seriously wanted to maintain that illocutionary acts are essentially directed at achieving and illocutionary effect...would not only misjudge the essence of the illocutionary, but would also confused the illocutionary with the perillocutionary. For illocutionary act are not communicative acts...at all. Perillocutionary acts on the other hand, are.)¹¹

यद्यपि पेट्रस की पेरीलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा कुछ हद तक उचित प्रतीत होती है, किंतु यदि भाषाई प्रयोग एवं प्रकार्य की दृष्टि से देखा जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दो क्रियाओं अर्थात् इलोकेशनरी क्रिया एवं परलोकेशनरी क्रिया के अंतर्गत आने वाले प्रभावों को एक ही समझने की चेष्टा

किया है। चूँकि इलोकेशनरी क्रिया के अंतर्गत जो प्रभाव कहे गए हैं, वे तो मात्र इलोकेशनरी क्रिया के सफल संपादन के लिए आवश्यक हैं, जबकि जो परिणामी प्रभाव परलोकेशनरी क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं वे इलोकेशनरी क्रिया से भिन्न होते हैं, यथा- वक्ता 'बाग में कुत्ता है' कहने में श्रोता को चेतावनी देता है (यदि वह वक्ता का अभिप्राय सुनिश्चित रूप से समझ जाता है), जबकि ऐसा कहने के द्वारा श्रोता में चौकन्ना होने का प्रभाव उत्पन्न हुआ। भले ही सतही तौर पर चेतावनी एवं चौकन्ना होना एक प्रतीत होता है, परंतु व्यापकता में दोनों भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि चेतावनी एक प्रकार की अनिवार्य क्रिया है, जबकि चौकन्ना होना एक प्रकार की सूचना है कि कुछ असाधारण होने वाला है या किसी का ध्यान आकर्षित करना ही चौकन्ना करना है। अतः कहा जा सकता है कि जब हम आस्टिन द्वारा प्रस्तुत 'क्रिया' की अवधारणा को संकीर्ण अर्थ में लेते हैं, तभी ऐसी समस्या उत्पन्न होती है, अन्यथा ये समस्या न होकर समस्याभास मात्र है।

ii) जब हम दूसरी समस्या अर्थात् क्या परलोकेशनरी क्रिया की वास्तव में कोई सीमा है? पर विचार करते हैं, तो विदित होता है कि परलोकेशन की कोई बाह्य सीमा नहीं होती है, क्योंकि वाक्-क्रिया के द्वारा उत्पन्न किसी भी परिणामी प्रभाव को परलोकेशनरी माना जा सकता है, यथा- यदि कोई समाचार आपको अचंभित करता है जिससे आप लड़खड़ा कर गिर जाते हैं, तो मेरी सूचना को आपने न केवल सत्य माना है जो कि स्वतः परलोकेशनरी प्रभाव है, अपितु आप अचंभित भी हुए हैं। इसी के साथ आप लड़खड़ा कर गिरे भी हैं और शायद आपके टखने में चोट भी लग गई है। इस प्रकार प्रभावों का यह आयाम जो क्रियाओं विशेषतः वाक्-क्रिया से संबंधित है उसे लेकर अनेक दार्शनिक, जैसे- आस्टिन, जोएल फीनबर्ग (Joel Feinberg, 1964) आदि किसी संशय की स्थिति में नहीं हैं। इसी कारण फीनबर्ग ने अपने आलेख "Action and Responsibility" में माना कि जिस प्रकार हार्मोनियम बजाने में उसे बढ़ाया या घटाया जा सकता है अथवा स्प्रिंग को दबाया या खींचा जा सकता है, उसी प्रकार किसी व्यक्ति की क्रिया को हम संकीर्ण एवं व्यापक दोनों रूप से बता सकते हैं और इसे उन्होंने 'एकार्डियन प्रभाव' कहा है। फीनबर्ग के शब्दों में, "भाषा कि यह प्रसिद्ध विशेषता, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के कृत्य को संकीर्ण या व्यापक रूप से वर्णित किया जा सकता है, मैं इसे 'एकार्डियन प्रभाव' कहने का प्रस्ताव करता हूँ..." (This well-known feature of language, whereby a man's action can be described as narrowly or broadly as we please, I propose to call the 'accordion effect'...)।¹² यद्यपि कुछ वाक्-क्रिया सिद्धांतकारों, यथा- बाख एवं हर्निश, ने परलोकेशनरी क्रिया को केवल अभिप्रेत परलोकेशनरी प्रभाव तक सीमित करना

[10]

परलोकेशनरी क्रिया : दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियाँ

अधिक उत्तम माना है। बाख एवं हर्निश के अनुसार, “हमने परलोकेशनरी क्रियाओं को SAS (वाक्-क्रिया स्कीमा) के चरणों से उत्पन्न प्रभावों के अभिप्रायात्मक उत्पादन तक सीमित कर दिया” (We restricted perlocutionary acts to the intentional production of effects generated off of steps of the SAS.)¹³ परंतु कुछ दार्शनिकों, यथा- आस्टिन, वार्नाक आदि, का मानना है कि परलोकेशनरी क्रिया अभिप्रायात्मक के साथ-साथ गैर-अभिप्रायात्मक भी हो सकती है अर्थात् परलोकेशनरी क्रिया का प्रभाव व्यापक रूप से उत्पन्न हो सकता है, उसे केवल अभिप्राय तक सीमित करना एकतरफा होगा। अस्तु, परलोकेशनरी क्रिया की कोई बाह्य सीमा संभव नहीं है।

हालाँकि परलोकेशनरी क्रिया की आंतरिक सीमा पर विचार किया जाए, तो यहाँ समस्या हो सकती है। पहला, क्या श्रोता को ठीक ढंग से वक्ता की आवाज सुनाई देना परलोकेशनरी प्रभाव कहा जा सकता है? दूसरा, क्या ग्रहण या समझ की अभिव्यक्तियाँ अर्थात् अर्थ एवं शक्ति की सुनिश्चित समझ ही स्वयं में परलोकेशनरी प्रभाव है? तीसरा, वचन की अर्थ एवं शक्ति की समझ से परे वाक्-क्रिया के उन प्रभावों के बारे में क्या कहा जाना चाहिए, जिनमें दायित्व, प्रतिबद्धता जैसे अनेक परंपरागत प्रभाव निहित होते हैं? प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर स्टीवन डेविस (Steven Davis, 1980) ने अपने आलेख “*Perlocutions*” में बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि आस्टिन ने परलोकेशनरी प्रभाव के लिए इलोकेशनरी एवं लोकेशनरी दोनों क्रियाओं को आवश्यक माना है। पुनश्च, ऐसा तभी संभव है जब उन प्रभावों के उत्पादन में ‘भाषाई क्षमता’ का अथवा आस्टिन के शब्दों में ‘भाषाई परंपरा’ का प्रयोग शामिल हो, अन्यथा उन्हें परलोकेशनरी प्रभाव नहीं माना जा सकता है, यथा- यदि किसी चेतावनी के उच्चारण में वक्ता की ध्वनि श्रोता के कानों को असहज लगती है, तो यह वाक्-क्रिया के एक आयाम अर्थात् फोनेटिक क्रिया का परिणामी प्रभाव है और चूँकि इसमें भाषा की क्षमता निहित नहीं है, इसलिए इसे परलोकेशनरी प्रभाव नहीं माना जा सकता। यद्यपि जब वक्ता यानी मैं एवं मेरे घनिष्ठ मित्र, यथा- अनमोल, के बीच भयंकर झगडा हुआ है फिर भी मैं अनमोल का उल्लेख करता हूँ, तो ऐसा करना श्रोता यानी आपको अचंभित करेगा अर्थात् ऐसा करना किसी निश्चित व्यक्ति को संदर्भित करने के लिए निश्चित नाम का प्रयोग करना है जो श्रोता की प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। इस कारण यह प्रकरण वाक्-क्रिया के अन्य आयाम अर्थात् रेटिक क्रिया की विशेषता के आधार पर एक परलोकेशनरी प्रभाव कहा जा सकता है। डेविस के शब्दों में, “तब, ऐसा प्रतीत

समाज, धर्म एवं दर्शन

होता है कि आस्टिन लोकेशनरी एवं इलोकेशनरी क्रियाओं दोनों को परलोकेशनरी कारणों से संबंधित मानते हैं...इसलिए...किसी परलोकेशनरी क्रिया को संपादित करने के लिए वक्ता के कुछ कहने के द्वारा श्रोता पर भाषाई क्षमता के माध्यम से प्रभाव पड़ना चाहिए...जो भाषाई क्षमता किसी परलोकेशनरी क्रिया के उत्पादन में एक भूमिका निभाती है” (It appears, then, that Austin regards both locutionary and illocutionary acts to perlocutionary causes...Hence...for a perlocutionary act to be performed a speaker’s saying something must produce an effect on the hearer through linguistic competence...which linguistic competence plays a role in the production of a perlocutionary act.)¹⁴ प्रत्युत, प्रतीत होता है कि भाषाई क्षमता ऐसा कारक है जो परलोकेशनरी प्रभाव के उत्पादन में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त, तीसरे प्रश्न का उत्तर देना इतना सहज नहीं है, फिर भी हम इस समस्या पर गहनता से विचार करके समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। ध्यातव्य है कि आस्टिन ने इलोकेशनरी क्रिया को तीन प्रभाव अर्थात् सुनिश्चित समझ, परंपरागत प्रभाव एवं प्रतिक्रिया या परिणाम को आमंत्रित करना से संबंधित माना है, परंतु परवर्ती वाक्-क्रिया सिद्धांतकार, यथा- स्ट्रासन, सर्ल इत्यादि ने केवल प्रथम प्रभाव अर्थात् सुनिश्चित समझ को ही वास्तविक माना है एवं अन्य दो को कुछ हद तक सीमित माना है। स्ट्रासन का मानना है कि इलोकेशनरी क्रिया में अनिवार्यतः परंपरागत प्रभाव निहित नहीं होता है, जैसा कि उन्होंने लिखा, “... इलोकेशनरी क्रिया स्वयं में अनिवार्यतः एक परंपरागत क्रिया नहीं है, कोई क्रिया जो किसी परंपरा के अनुरूप की जाती है...” (...illocutionary act itself is not essentially a conventional act, an act done as conforming to a convention...)¹⁵ पुनः वे मानते हैं कि सुनिश्चित ग्रहण का उद्देश्य इलोकेशनरी क्रिया के संपादन में एक मानक तत्व है, इसलिए यह इलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा में नितांत आवश्यक है। स्ट्रासन के अनुसार, “अर्थात्, यदि उपलब्धि नहीं, तो ग्रहण को सुनिश्चित करने का उद्देश्य, यदि अपरिवर्तनीय नहीं है, अनिवार्यरूपेण इलोकेशनरी क्रिया के सम्पादन में एक मानक तत्व है। अतएव, ग्रहण को सुनिश्चित करने के उद्देश्य का विश्लेषण इलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा के विश्लेषण में एक मूलभूत तत्व बना हुआ है” (namely, that the aim, if not the achievement, of securing uptake is essentially a standard, if not an invariable, element in the performance of the illocutionary act. So the analysis of the aim of securing uptake remains an essential element in the analysis of the notion of the illocutionary act.)¹⁶

ध्यातव्य हो कि सर्ल ने भी इलोकेशनरी क्रिया में सुनिश्चित ग्रहण को महत्वपूर्ण घटक माना, लेकिन परंपरागत प्रभाव को डिक्लेरेटिव शक्ति या बिंदु (Declarative force or point) अर्थात् जगत् में परिवर्तित वस्तुस्थितियों के अंतर्गत और प्रतिक्रिया को आमंत्रित करने को डायरेक्टिव शक्ति या बिंदु (Directive force or point) अर्थात् श्रोता के व्यवहार को निर्देशित करने के अंतर्गत ही माना है। अस्तु, प्रतीत होता है कि स्ट्रासन एवं सर्ल ने इलोकेशनरी क्रिया के प्रभाव को प्राथमिक एवं गौण दो रूपों में माना अर्थात् उन्होंने सुनिश्चित ग्रहण को प्राथमिक इलोकेशनरी प्रभाव तथा परंपरा एवं प्रतिक्रिया को आमंत्रित करने को गौण इलोकेशनरी प्रभाव के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आस्टिन ने सुनिश्चित समझ के साथ-साथ परंपरागत प्रभाव को भी इलोकेशनरी क्रिया के अंतर्गत प्रमुख प्रभाव माना है। चूँकि किसी भी परिस्थिति में यह कहना उचित है कि यदि कोई परंपरागत प्रभाव है जिसकी प्राप्ति के लिए इलोकेशनरी क्रिया का गठन हुआ है और यह प्रभाव विविध प्रकार की चुट्टियों जो कि संपादन करने में हो सकती हैं, के कारण निष्प्रभावी होने के अधीन है, तो ऐसा प्रभाव परलोकेशनरी प्रभाव न होकर इलोकेशनरी प्रभाव ही होगा।

यह ध्यान देने योग्य है कि यदि इलोकेशनरी क्रियाओं को बाख एवं हर्निश के अनुरूप 'संप्रेषणात्मक क्रियाओं' (Communicative Acts) के रूप में परिभाषित किया जाता है, तो उनका इलोकेशनरी प्रभाव होता है जो श्रोता को वक्ता का अभिप्राय समझाता है, यथा- उनके संप्रेषणात्मक इलोकेशनरी क्रिया के वर्गीकरण में कमिसिव्स क्रिया (Commissives Act) एक उत्तरदायित्व निर्वहन की क्रिया है, जिसमें वक्ता एक निश्चित उत्तरदायित्व लेने का अभिप्राय रखता है एवं उत्तरदायित्व स्वयं एक अतिरिक्त प्रभाव के रूप में भी प्रस्तुत होता है, भले ही इसमें यह स्पष्ट हो कि यह परंपरागत प्रभाव है जिसे लाने के लिए वादा करने की प्रक्रिया का गठन हुआ है। बाख एवं हर्निश के अनुसार, "यदि वक्ता के इलोकेशनरी अभिप्राय को श्रोता द्वारा पहचाना जाता है, तो इलोकेशनरी क्रिया संप्रेषणीय रूप से सफल होती है... इस प्रकार संप्रेषण की क्रिया का अभिप्रेत प्रभाव केवल किसी निश्चित प्रभाव को पहचानने के माध्यम से उत्पन्न कोई प्रभाव नहीं है, बल्कि यह उस प्रभाव का पहचाना जाना है" (An illocutionary act is communicatively successful if the speaker's illocutionary intention is recognized by the hearer.... Thus the intended effect of an act of communication is not just any effect produced by means of recognition of the produce a certain effect, it is the recognition of that effect.)¹⁷ प्रत्युत, आस्टिन के द्वारा प्रस्तुत इलोकेशनरी क्रिया के द्वारा लाया गया प्रभाव परलोकेशनरी के रूप

में प्रकट हो सकता है।

iii) तृतीयतः परलोकेशन के साथ एक अन्य समस्या प्रत्यक्षतः इसकी परिभाषा एवं इसके मुख्य प्रभावों, यथा- सहमत करना, विश्वास दिलाना, सचेत करना आदि के विवेचन से उत्पन्न होती है कि क्या परलोकेशनरी क्रिया को वास्तव में वक्ता का कृत्य माना जा सकता है। यद्यपि परलोकेशनरी क्रिया को संपादित करने के लिए उसके साथ वक्ता को कोई भी भाव-भंगिमा या मनोवैज्ञानिक गतिविधि को जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है जो कि वह इलोकेशनरी क्रिया संपादित करने के दौरान करता है। चूँकि यह श्रोता या दर्शक की मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक प्रतिक्रिया है जो महत्वपूर्ण होती है। फिर भी उक्त समस्या का आरंभ डोनाल्ड डेविडसन (Donald Davidson, 1971) के विचारों से होता है। चूँकि डेविडसन ने अपने आलेख "Agency" में तर्क दिया हमारे समस्त कार्य आद्य कृत्य हैं जो कि शारीरिक गतिविधि के समान हैं और हम इससे अलग कुछ भी नहीं कर सकते हैं। उनके शब्दों में, "हमें यह निष्कर्ष निगमित करना चाहिए कि हमारे कृत्य, जिसे कोई कुछ अन्य करके नहीं करता है, शरीर की गतिविधि मात्र हैं- ये सभी कृत्य हैं। हम अपने शरीर को हिलाने से अधिक कुछ नहीं करते: बाकी सब प्रकृति पर निर्भर है" (We must conclude that our primitive actions, the ones we do not do by doing something else, mere movements of the body- these are all the actions there are. We never do more than move our bodies: the rest is up to nature.)¹⁸ इस प्रकार डेविडसन के विचार से प्रेरित होकर कुछ दार्शनिक, यथा- ए०आई० मेल्डन (A.I. Meldon) आदि ऐसा मानते हैं कि जब वे कहते हैं कि सभी आद्य कृत्य शारीरिक गतिविधियाँ हैं और हमारे सभी कृत्य आद्य हैं, तो इससे आपादित होता है कि प्रत्येक कृत्य शारीरिक गतिविधि के ही समान हैं।

इसे अधिक स्पष्टरूपेण व्यक्त करते हुए जुलियन फिंक (Julian Fink, 2011) ने लिखा, "कुल मिलाकर, डेविडसन का तर्क है कि: (i) सभी आद्य कृत्य शारीरिक गतिविधियाँ हैं; और (ii) हमारे सभी कृत्य आद्य हैं। (i) और (ii) को मिलाकर यह निष्कर्ष निगमित होता है कि सभी कृत्य शरीर की गतिविधियाँ हैं" [In sum, Davidson argues that: (i) all primitive actions are bodily movements; and (ii) all our actions are primitive. By combining (i) and (ii) it then follows that all actions are movements of the body.]¹⁹ यद्यपि उक्त विचार आस्टिन के क्रिया संबंधी विचारों एवं वाक्-क्रिया के साथ असंगत प्रतीत होता है। डेविडसन प्रेरित कृत्य के दृष्टिकोण के अनुसार परलोकेशनरी क्रिया वक्ता के वास्तविक कृत्य के रूप में अस्तित्ववान नहीं हो सकती है, बल्कि केवल एक ऐसे

[14]

परलोकेशनरी क्रिया : दार्शनिक विमर्श एवं वैचारिक चुनौतियाँ

तरीके के रूप में हो सकती है, जिसमें उच्चारित क्रिया को उसके परिणाम के आधार पर वर्णित किया जा सकता है। निःसंदेह यह श्रोता की एक क्रिया के अनुरूप हो सकता है। यद्यपि यह वाक्-क्रिया के सैद्धांतिक अर्थ में परलोकेशनरी क्रिया नहीं है, बल्कि वक्ता के वचन के फलस्वरूप प्राप्त प्रतिक्रिया मात्र है और शायद इसीलिए इसे परलोकेशनरी प्रभाव कहा जाता है। हालाँकि ऐसा प्रतीत होता है कि परलोकेशन में श्रोता की प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण है और उस प्रतिक्रिया को लाना वक्ता की एक क्रिया या कृत्य है, किंतु किसी कृत्य के पहचान में जो प्रमुख है वह वक्ता की शारीरिक गतिविधि नहीं है। उसमें प्रमुख यह है कि क्या किसी वस्तु-स्थिति में किसी निश्चित परिवर्तन का पता उस वक्ता के उत्तरदायित्व से लगाया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि यदि कोई व्यक्ति केवल शारीरिक गतिविधियों से कृत्यों या क्रियाओं का पता लगाने का प्रयास करता है, तो उसे 'फिलॉसफी ऑफ एक्शन' (Philosophy of Action) पर निर्भर रहना चाहिए और उसे परलोकेशनरी क्रिया के अस्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार कर चलना चाहिए। प्रत्युत, शारीरिक गतिविधि को ही कृत्य मानना आस्टिन के परलोकेशनरी क्रिया के साथ ही साथ समग्र वाक्-क्रिया के संबंध में भी पूर्णतः तर्कसंगत नहीं है।

संदर्भ

1. Austin, J.L. (2009). *How to Do Things with Words*. J.O. Urmson & M. Sbisà (Eds.), Oxford: Oxford University Press, p. 101.
2. Ibid., p. 118.
3. Ibid., p. 119.
4. Ibid., p. 121.
5. Ibid., p. 121.
6. Ibid., p. 121.
7. Warnock, G.J. (1989). *J.L. Austin: The Arguments of the Philosophers*. London & New York: Routledge, p. 97.
8. Pandey, R.K. (2008). *Speech Act and Linguistic Communication*. New Delhi: Concept Publishing Company, p. 113.
9. Cohen, T. (1973). "Illocutions and Perlocutions". *Foundations of Language*, Vol. 9, No. 4, pp. 492-503.
10. Petrus, K. (2010). "Illocution, Perlocution and Communication". In Klaus Petrus (Ed.), *Meaning and Analysis: New Essays on Grice*, UK: Palgrave Macmillan, p. 228.
11. Ibid., p. 232.
12. Feinberg, J. (1964). "Action and Responsibility". In Max Black (Ed.), *Philosophy in America*, Ithaca: Cornell University Press, p. 146.
13. Bach, K. & Harnish, R.M. (1982). *Linguistic Communication and Speech Acts*. Cambridge: The MIT Press, p. 81.

समाज, धर्म एवं दर्शन

14. Devis, S. (1980). "Perlocutions". In J.R. Searle, F. Kiefer & M. Bierwisch (Eds.), *Speech Act Theory and Pragmatics*, Dordrecht: D. Reidel Publishing Company, pp. 37-56.
15. Strawson, P.F. (1971). "Intention and Convention in Speech Acts". In J.R. Searle (Ed.), *The Philosophy of Language*, Oxford: Oxford University Press, pp. 35-36.
16. Ibid., p. 30.
17. Bach, K. & Harnish, R.M. (1982). *Linguistic Communication and Speech Acts*. Cambridge: The MIT Press, p. 15.
18. Davidson, D. (2001). "Agency". In Donald Davidson (Ed.), *Essays on Actions and Events*, Second Edition, Oxford: Clarendon Press, p. 59.
19. Fink, J. (2011). "Are All Actions Movements of the Agent's Body". *Kriterion, Journal of Philosophy*, Vol. 24, No. 1, pp. 52-64.

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सहायक आचार्य
अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र विभाग
महात्मा ज्योतिबा फुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली
Email- priyanshuagrawal900@gmail.com

भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांतः ज्ञान, भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या

- भीम शंकर मीना

सारांश

भारतीय ज्ञान परंपरा (Indian Knowledge Systems) में ज्ञान को किसी एकल, स्थायी एवं निरपेक्ष सत्य के रूप में नहीं, बल्कि अनुभव, व्यवहार, प्रयोजन और विवेक से संबद्ध एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में समझा गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र बौद्ध अपोह सिद्धांत को इसी व्यापक भारतीय ज्ञान-परंपरागत ढाँचे में स्थापित करते हुए ज्ञान, भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करता है। आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित अपोह सिद्धांत यह प्रतिपादित करता है कि शब्दार्थ किसी सकारात्मक सार्वभौमिक सत्ता का बोध नहीं करता, बल्कि अन्य वस्तुओं के निषेध (व्यावृत्ति) के माध्यम से व्यवहारोपयोगी अर्थ का निर्माण करता है।¹ इस शोध में आचार्य शांतरक्षित के समन्वयात्मक दृष्टिकोण तथा आचार्य रत्नकीर्ति के 'विशिष्टापोह' सिद्धांत का विश्लेषण करते हुए यह दर्शाया गया है कि अपोह केवल नकारात्मक सिद्धांत नहीं, बल्कि विधि और निषेध के युगपत् बोध पर आधारित एक संतुलित ज्ञान-संरचना है। न्याय-मीमांसा तथा जैन अनेकान्तवाद के साथ तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से यह शोध स्पष्ट करता है कि बौद्ध अपोह भारतीय ज्ञान परंपरा में ज्ञान को भेदात्मक, सापेक्ष एवं प्रयोजन-आधारित बनाता है। समकालीन संदर्भ में विशेषतः कृत्रिम बुद्धिमत्ता और आधुनिक ज्ञान-प्रणालियों के साथ इसका संवाद यह सिद्ध करता है कि अपोह सिद्धांत आज भी भारतीय दर्शन को वैश्विक बौद्धिक विमर्श से जोड़ने की क्षमता रखता है।²

अंततः यह अध्ययन प्रतिपादित करता है कि अपोह सिद्धांत न केवल बौद्ध भाषा-दर्शन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, बल्कि भारतीय ज्ञान परंपरा (Indian Knowledge System) के भीतर ज्ञान को किसी स्थिर, वस्तुनिष्ठ सत्ता के बजाय अनुभव, भाषा और व्यवहार से निर्मित एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया के रूप में समझने का सशक्त दार्शनिक आधार प्रदान करता है। इस प्रकार अपोह सिद्धांत भारतीय

भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या [17]

ज्ञान परंपरा की जीवंतता, अनुकूलनशीलता और समकालीन प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए उसे वैश्विक बौद्धिक विमर्श में एक विशिष्ट ज्ञानमीमांसात्मक प्रतिमान के रूप में स्थापित करता है।

शब्दकोश- भारतीय ज्ञान परंपरा, बौद्ध ज्ञानमीमांसा, अपोह सिद्धांत, विशिष्टापोह, भाषा-दर्शन, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, अर्थक्रिया, समकालीन ज्ञान-प्रणालियाँ।

प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिंतन में 'ज्ञान क्या है?' और 'ज्ञान का उद्देश्य क्या है?' ये प्रश्न केवल तात्त्विक जिज्ञासा तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उनका गहरा संबंध व्यवहार, नैतिक विवेक और मुक्ति से रहा है। भारतीय ज्ञान परंपरा में ज्ञान को किसी अंतिम, अपरिवर्तनीय सत्य के उद्घाटन के रूप में नहीं, बल्कि अनुभव, साधना और प्रयोजन के आलोक में विकसित होने वाली प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।³ इस परंपरा में वैदिक, बौद्ध और जैन दर्शनों के बीच निरंतर संवाद और मतभेद विद्यमान रहे हैं, जिसने भारतीय ज्ञान-प्रणाली को बहुविध, सापेक्ष और आलोचनात्मक स्वरूप प्रदान किया है।

बौद्ध ज्ञानमीमांसा का विकास विशेष रूप से इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह ज्ञान को क्षणिक, व्यावहारिक और भाषिक-संरचना से जुड़ा हुआ मानती है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित प्रमाणवाद ने प्रत्यक्ष और अनुमान के माध्यम से ज्ञान की वैधता को परिभाषित किया तथा यह स्पष्ट किया कि भाषिक और संकल्पात्मक ज्ञान यथार्थ का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब नहीं है। इसी बिंदु से अपोह सिद्धांत का उद्भव होता है, जो शब्दार्थ और सामान्य की समस्या का समाधान निषेधात्मक-भेदात्मक ढाँचे के माध्यम से प्रस्तुत करता है।⁴

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य शांतिरक्षित और रत्नकीर्ति के दार्शनिक योगदानों के आलोक में अपोह सिद्धांत को भारतीय ज्ञान परंपरा के भीतर एक वैकल्पिक ज्ञान-प्रतिमान के रूप में स्थापित करना है, ऐसा प्रतिमान जो ज्ञान, भाषा और अर्थ की पारंपरिक अवधारणाओं का पुनर्पाठ प्रस्तुत करता है और समकालीन ज्ञान-प्रणालियों से संवाद स्थापित करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा एवं अपोहवाद

भारतीय ज्ञान परंपरा (Indian Knowledge Systems IKS) में ज्ञान की अवधारणा मूलतः बहुआयामी, अनुभवसापेक्ष और व्यवहारोन्मुख रही है। यहाँ ज्ञान को किसी एकल, स्थिर एवं वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि संज्ञानात्मक

[18] भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या प्रक्रिया के रूप में समझा गया है, जो प्रत्यक्ष अनुभव, भाषिक संकल्पना और व्यवहारिक प्रयोजन के अंतःसंबंध से निर्मित होती है। बौद्ध दर्शन का अपोह सिद्धांत इस व्यापक ज्ञान-परंपरा के भीतर ज्ञान, अर्थ और संकल्पना-निर्माण की एक विशिष्ट एवं मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसके माध्यम से भारतीय दर्शन वैश्विक बौद्धिक विमर्श में एक विशिष्ट पहचान अर्जित करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा के संदर्भ में अपोह सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि ज्ञान किसी स्थायी सार या द्रव्यात्मक सार्वभौमिकता का प्रत्यक्ष उद्घाटन नहीं है। इस दृष्टि से यह वेदान्त की तत्त्वात्मक सार्वभौमिकताओं तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन की 'जाति'-तत्त्व की अवधारणा से भिन्न है, जहाँ ज्ञान को किसी न किसी रूप में वस्तुगत और नित्य सत्ता से संबद्ध किया जाता है। अपोह के अनुसार, संकल्पनाएँ और शब्दार्थ वस्तुओं में निहित किसी शाश्वत सामान्य को नहीं दर्शाते, बल्कि अन्य वस्तुओं के निषेध (व्यावृत्ति) के माध्यम से व्यवहारोपयोगी अर्थ की रचना करते हैं।⁵ इस प्रकार ज्ञान को एक गतिशील, सापेक्ष और संज्ञानात्मक प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में अपोह की भूमिका विशेषतः भाषा-दर्शन, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। भाषा-दर्शन में अपोह यह स्पष्ट करता है कि अर्थ का निर्माण सकारात्मक वस्तु-सत्ता से नहीं, बल्कि भेदात्मक संरचना से होता है। तर्कशास्त्र में यह दृष्टि निषेध और भिन्नता को तर्क की आधारभूमि बनाती है, जिससे ज्ञान निरपेक्ष दावों के स्थान पर विवेकपूर्ण परीक्षण पर आधारित होता है। ज्ञानमीमांसा में अपोह 'अर्थक्रिया' को ज्ञान की वैधता की कसौटी मानकर यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञान का मूल्य उसकी प्रायोगिक उपयोगिता और व्यवहार-सफलता से निर्धारित होता है।

इसके अतिरिक्त, शिक्षण-अधिगम प्रक्रियाओं के संदर्भ में अपोह सिद्धांत यह संकेत करता है कि ज्ञान का अधिग्रहण किसी पूर्वनियत सत्य के हस्तांतरण के रूप में नहीं, बल्कि भेद, तुलना, अभ्यास और अनुभव के माध्यम से घटित होता है। इस दृष्टि से अपोह भारतीय ज्ञान परंपरा को एक जीवंत, अनुकूलनशील और प्रक्रिया-आधारित ज्ञान-परंपरा के रूप में रूपायित करता है, जहाँ ज्ञान अनुभवजन्य होते हुए भी मनमाना नहीं, बल्कि व्यवहार, विवेक और प्रयोजन द्वारा नियंत्रित रहता है।

अपोह की संकल्पना: अर्थ-निर्माण की दृष्टि

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अपोह' का शाब्दिक अर्थ 'निषेध' या 'व्यावृत्ति' है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द किसी वस्तु में निहित स्थायी सार्वभौमिक (जाति) का

समाज, धर्म एवं दर्शन

भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या [19]

बोध नहीं कराता, बल्कि अन्य वस्तुओं से पृथक् करके व्यवहारोपयोगी अर्थ का निर्माण करता है।⁶ बौद्ध मतानुसार 'जाति' की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, एक गाय और दूसरी गाय में 'गाय' नाम के अतिरिक्त कोई शाश्वत सार्वभौमिक तत्त्व नहीं पाया जाता।

इस दृष्टि से शब्दार्थ नकारात्मक-भेदात्मक संरचना पर आधारित है। अर्थ 'क्या है' से अधिक 'क्या नहीं है' के माध्यम से स्पष्ट होता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में यह दृष्टि ज्ञान को वस्तुगत सार्वभौमिकताओं से मुक्त कर अनुभवजन्य, भाषिक और व्यवहार-सापेक्ष प्रक्रिया के रूप में स्थापित करती है, जहाँ ज्ञान का मूल्य उसकी प्रयोजनात्मक सफलता से निर्धारित होता है।

बौद्ध अपोहवाद: ज्ञान और भाषा की निषेधात्मक संरचना

बौद्ध ज्ञानमीमांसा दो प्रमाणों प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करती है। दिङ्नाग के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही वास्तविक यथार्थ (स्वलक्षण) को ग्रहण करता है, जबकि विकल्पात्मक ज्ञान संकल्प और भाषा से जुड़ा होता है। 'सामान्यलक्षण' का ज्ञान अनुमान और शब्द के माध्यम से उत्पन्न होता है, जो मूलतः मानसिक निर्माण (विकल्प) है।

धर्मकीर्ति ने अपोह सिद्धांत को व्यवस्थित करते हुए प्रतिपादित किया कि शब्दार्थ किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं बताता, बल्कि उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् करके व्यावहारिक पहचान प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, 'घोड़ा' शब्द किसी शाश्वत 'घोडेत्व' का बोध नहीं कराता, बल्कि उसे अन्य प्राणियों से भिन्न करता है। इस प्रकार संकल्पात्मक और भाषिक ज्ञान नकारात्मक-भेदात्मक ढाँचे पर आधारित है।⁷

शांतरक्षित का समन्वयात्मक दृष्टिकोण

आचार्य शांतरक्षित (8वीं शताब्दी) ने 'तत्त्वसंग्रह' में अपोह सिद्धांत को एक व्यापक ज्ञानमीमांसात्मक ढाँचे के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपोह को 'पर्युदास' और 'प्रसज्यप्रतिषेध' दो श्रेणियों में विभाजित किया।

1. पर्युदास- जहाँ निषेध के माध्यम से किसी अन्य वस्तु की स्थापना होती है, इसमें शब्द प्रत्यक्षतः एक 'मानसिक प्रतिबिम्ब' उत्पन्न करते हैं।
2. प्रसज्यप्रतिषेध- यह शुद्ध निषेध है, जहाँ केवल अन्य वस्तुओं का निराकरण किया जाता है।

उनके अनुसार व्यावहारिक स्तर पर शब्द 'विधि' का बोध कराते हैं, परंतु यह

[20] भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या विधि अनिवार्यतः 'अन्यापोह' से युक्त होती है। शांतरक्षित का 'समन्वयात्मक' दृष्टिकोण इस बात में निहित है कि वे शब्दार्थ को न तो पूरी तरह नकारात्मक मानते हैं और न ही सकारात्मक⁸ वे तर्क देते हैं कि व्यावहारिक स्तर पर शब्द एक 'विधि' का बोध कराते हैं, लेकिन यह विधि अनिवार्य रूप से 'अन्यापोह' से युक्त होती है।

शांतरक्षित का समन्वयात्मक दृष्टिकोण भारतीय ज्ञान परंपरा की संवादात्मक प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करता है , जहाँ विभिन्न दार्शनिक मतों के बीच आलोचनात्मक संतुलन के माध्यम से ज्ञान की व्यावहारिक वैधता स्थापित की जाती है।

रत्नकीर्ति का विशिष्टापोह

11वीं शताब्दी के आचार्य रत्नकीर्ति ने अपने निबंध 'अपोहसिद्धि' में इस सिद्धांत को इसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाया। रत्नकीर्ति का सबसे बड़ा योगदान 'विशिष्टापोह' की संकल्पना है। रत्नकीर्ति ने 'विधि' (सकारात्मक अर्थ) बनाम 'प्रतिषेध' (नकारात्मक अर्थ) के विवाद को सुलझाते हुए स्पष्ट किया कि शब्द का अर्थ 'अन्यापोहविशिष्टो विधिः' (अन्य के अपोह से युक्त विधि) है। इसका अर्थ यह है कि जब हम 'गाय' शब्द सुनते हैं, तो हमारे मन में गाय का सकारात्मक स्वरूप और 'अ-गो' (घोड़े आदि) का निषेध, ये दोनों एक ही साथ भासित होते हैं।

अतः विशिष्टापोह यह सिद्ध करता है कि बौद्ध ज्ञानमीमांसा केवल नकारात्मक दर्शन नहीं, बल्कि अर्थपूर्ण, रचनात्मक और व्यवहारोन्मुख ज्ञान-दृष्टि प्रस्तुत करती है।⁹

तुलनात्मक अध्ययन: न्याय-मीमांसा और जैन अनेकान्तवाद के संदर्भ में

न्याय-वैशेषिक दर्शन 'सामान्य' को नित्य एवं शाश्वत् पदार्थ मानता है, जो व्यक्तियों में समवेत रहता है। मीमांसक सामान्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करते हैं, पर समवाय संबंध को अस्वीकार करते हैं। इसके विपरीत, बौद्ध अपोह सामान्य की स्वतंत्र सत्ता को नकारता है।

जैन अनेकान्तवाद ज्ञान की बहुपक्षीयता पर बल देता है। यद्यपि अपोह और अनेकान्तवाद दोनों सार्वभौमिक एकांगीपन का निषेध करते हैं, अपोह भाषिक-निषेधात्मक संरचना पर आधारित है, जबकि अनेकान्तवाद तत्त्वमीमांसात्मक बहुलता पर। इन तुलनाओं से स्पष्ट होता है कि अपोह भारतीय ज्ञान परंपरा में एक संतुलित, प्रक्रिया-आधारित ज्ञान-दृष्टि प्रस्तुत करता है।¹⁰

अपोह और समकालीन ज्ञान-प्रणालियाँ: कृत्रिम बुद्धिमत्ता के संदर्भ में

समकालीन युग में ज्ञान-निर्माण कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसी प्रणालियों के माध्यम से पुनर्संरचित हो रहा है। ये प्रणालियाँ स्थायी सार के स्थान पर भेद, निषेध और प्रयोजनात्मक उपयोगिता के आधार पर अर्थ का निर्माण करती हैं, जो अपोह सिद्धांत की मूल प्रवृत्ति से साम्य रखता है। AI में 'सटीकता' का मापदंड बौद्ध 'अर्थक्रिया' से तुलनीय है। इस तरह अपोह सिद्धांत और आधुनिक AI के बीच एक वैचारिक साम्य देखा जा सकता है।¹¹ इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत भारतीय ज्ञान परंपरा को एक ऐसी जीवंत दार्शनिक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करता है,

अतः बौद्ध अपोह सिद्धांत और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के बीच यह संवाद भारतीय दर्शन को समकालीन वैश्विक विमर्श से जोड़ कर नैतिक और दार्शनिक दिशा प्रदान कर सकती है। यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय ज्ञानमीमांसा आज भी आधुनिक ज्ञान-समस्याओं को समझने की वैचारिक क्षमता रखती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध अपोह सिद्धांत विशेषतः शांतिरक्षित और रत्नकीर्ति के योगदानों के माध्यम से भारतीय ज्ञान परंपरा में ज्ञान, भाषा और अर्थ की एक वैकल्पिक एवं समकालीन पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करता है। अपोह ज्ञान को न तो किसी स्थायी, वस्तुनिष्ठ सार्वभौमिक तत्त्व का उद्घाटन मानता है और न ही उसे मात्र मानसिक कल्पना तक सीमित करता है, बल्कि उसे अनुभव, भाषा और व्यवहार से गठित एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया के रूप में निरूपित करता है।¹²

वैदिक (न्याय-मीमांसा) तथा जैन अनेकान्तवादी परंपराओं के साथ किए गए तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि अपोह सिद्धांत भारतीय दर्शन की 'मध्यम प्रतिपद' परंपरा का दार्शनिक रूप से परिपक्व उदाहरण है, जो वस्तुवादी निरपेक्षता और सापेक्षतावादी अराजकता दोनों से समान दूरी बनाए रखता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा के संदर्भ में अपोह सिद्धांत का महत्व इस तथ्य में निहित है कि वह ज्ञान को किसी अंतिम सत्य का उद्घाटन न मानकर उसकी प्रायोगिक उपयोगिता, व्यवहार-सफलता और विवेकपूर्ण अनुप्रयोग से प्रमाणित करता है। इस प्रकार अपोह भारतीय ज्ञान परंपरा को एक जीवंत, अनुकूलनशील और प्रक्रिया-आधारित ज्ञान-परंपरा के रूप में रूपायित करता है।

समकालीन संदर्भ में, विशेषतः कृत्रिम बुद्धिमत्ता और आधुनिक ज्ञान-प्रणालियों

[22] भारतीय ज्ञान परंपरा में बौद्ध अपोह सिद्धांत: ज्ञान भाषा और अर्थ की पुनर्व्याख्या के साथ अपोह का संवाद यह सिद्ध करता है कि यह सिद्धांत केवल एक ऐतिहासिक भाषा-दर्शन नहीं, बल्कि भारतीय ज्ञान परंपरा के भीतर विकसित एक ऐसा ज्ञानमीमांसात्मक प्रतिमान है, जो परंपरा और आधुनिकता, दर्शन और तकनीक तथा सिद्धांत और व्यवहार के बीच सार्थक और सृजनात्मक दार्शनिक संवाद स्थापित करने की क्षमता रखता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. द्विङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय तथा प्रमाणसमुच्चयवृत्ति। बौद्ध भारती संस्करण, वाराणसी।
2. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति सहित)। चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
3. शांतरक्षित, तत्त्वसंग्रह। कमलशीलकृत पञ्जिका सहित। गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा।
4. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि तथा विशिष्टापोह। चैखम्भा ओरिएंटल रिसर्च सीरीज।
5. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक। मिमांसा खण्ड। चैखम्भा।
6. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य। गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य सहित)। जैन विश्व भारती।
8. Das Gupta, S.N. -A History of Indian Philosophy, Vol. I, Delhi: MotilalBanarsidass
9. Mohanty, J. N. -Reason and Tradition in Indian Thought, Delhi: Oxford University Press
10. भारत सरकार- Indian Knowledge Systems: Framework and Perspectives। नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय, IKS प्रभाग।
11. भट्टाचार्य, तारानाथ. Studies in Buddhist Epistemology. MotilalBanarsidass
12. Matilal, Bimal N. Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge. Oxford University Press

शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान।
Email: iambeemshankar18@gmail.com

सृजन का स्वप्न और असृजन का बोध : सनातनता और अजातिवाद की तात्त्विक एकरूपता का विश्लेषणात्मक अध्ययन

राजन

सारांश

हिंदू, बौद्ध और जैन जैसी प्रमुख धार्मिक-दार्शनिक परंपराओं की एक महत्वपूर्ण समानता यह है कि यथार्थ की प्रकृति को लेकर उनके मतभेदों के बावजूद, वे सभी किसी न किसी रूप में सनातनता की धारणा से जुड़ी हुई हैं। उनकी शिक्षाओं, दार्शनिक चिंतन, जीवन-पद्धति (धर्म) और समग्र विश्वदृष्टि में यह विचार स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनमें से कोई भी परंपरा अपने दर्शन को केवल अस्थायी या क्षणिक मानकर संतुष्ट नहीं होती। यह सही है कि सनातनता को समय, स्थान या कारण-कार्य जैसे अनुभवजन्य ढाँचों के भीतर प्रमाणित करना लगभग असंभव है। फिर भी, इसका अर्थ यह नहीं है कि सनातनता एक निरर्थक या असंगत विचार है अथवा केवल आस्था का विषय मात्र है। दार्शनिक स्तर पर इसे तार्किक और तात्त्विक रूप से समझा और स्पष्ट किया जा सकता है। इसी से इस लेख का मुख्य प्रश्न उत्पन्न होता है कि सनातनता की इस समझ को दार्शनिक रूप से कैसे उचित ठहराया जाए। इस प्रश्न के उत्तर हेतु यह लेख अजातिवाद, अर्थात् उत्पत्तिवाद के निषेध के सिद्धांत, पर केंद्रित है। इस अध्ययन में टी. एम. पी. महादेवन, कार्ल पॉटर तथा रिचर्ड किंग के विचारों की सहायता ली गई है। यह लेख अजातिवाद की व्याख्या अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध दर्शन के संदर्भ में करता है, यद्यपि इन दोनों परंपराओं में इस विषय को लेकर कुछ सैद्धान्तिक मतभेद विद्यमान हैं। अजातिवाद के आलोक में यह लेख यह प्रतिपादित करता है कि सृष्टिवाद और विकासवाद जैसे वैकल्पिक दृष्टिकोण अंततः अनेक दार्शनिक कठिनाइयों और आंतरिक अंतर्विरोधों में उलझ जाते हैं। इतना ही नहीं, इन दृष्टिकोणों के अंतर्गत मुक्ति जैसे मानवीय प्रश्न भी समस्याग्रस्त और अस्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। इसके विपरीत, यदि सनातनता की संकल्पना को वास्तव में अर्थपूर्ण

[24]

सृजन का स्वप्न और असृजन का बोध : सनातनता और अजातिवाद

और दार्शनिक रूप से संगत बनाना है, तो उसे सबसे स्पष्ट रूप में अजातिवाद के माध्यम से ही समझा जा सकता है। अन्य सभी दृष्टिकोण या तो आत्मविरोधी सिद्ध होते हैं या एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं।

मुख्य शब्द: उत्पत्तिवाद, विकासवाद, सनातनता, अजातिवाद, अद्वैत वेदांत, दृष्टि परिवर्तन

प्रस्तावना: सृष्टिवाद की दार्शनिक विडंबनाएँ और अजातिवाद का अस्तित्वगत विस्तार

मानव चिंतन की गहराइयों में यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि कुछ का होना ही क्यों आवश्यक हुआ, जबकि कुछ भी न होना भी संभव प्रतीत होता है। इस प्रश्न ने समय के साथ अनेक सिद्धांतों और व्यापक आख्यानो को जन्म दिया है, जिनका उद्देश्य अस्तित्व की प्रतीत होने वाली अव्यवस्था में किसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करना रहा है।¹ इन आख्यानो में सृष्टिवाद के विभिन्न रूप विशेष रूप से प्रभावशाली और व्यापक रहे हैं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि किसी निश्चित क्रिया या घटना के माध्यम से ब्रह्मांड अस्तित्व में आया। चाहे ये सिद्धांत दैवीय ग्रंथों की भाषा में व्यक्त किए गए हों या सैद्धांतिक भौतिकी के गणितीय सूत्रों में, वे अंतिम “क्यों” और “कैसे” का उत्तर देने के मानव प्रयासों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किंतु जब हम इन सिद्धांतों की दार्शनिक रूप से जाँच करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि प्रत्येक रूप, अपनी आंतरिक तार्किक संगति के बावजूद, अंततः गंभीर ज्ञानमीमांसात्मक भार से दब जाता है। इनके सीमांत पर ऐसे विरोधाभास उभरते

1 Martin Heidegger, for instance, asks, “Why are there beings at all instead of nothing? That is the question. Presumably, it is not an arbitrary question: “Why are there beings at all instead of nothing?” This is obviously the first question. Of course, it is not the first question in the chronological sense. And yet, we are each touched once, maybe even now and then, by the concealed power of this question, without properly grasping what is happening to us. In great despair, for example, when all weight tends to dwindle away from things and the sense of things grows dark, the question looms. Perhaps it strikes only once, like the muffled tolling of a bell that resounds into [our depths] and gradually fades away. The question is there in heartfelt joy, for then all things are transformed and surround us as if for the first time, as if it were easier to grasp that they were not, rather than that they are, and are as they are. The question is there in a spell of boredom, when we are equally distant from despair and joy, but when the stubborn ordinariness of beings lays open a wasteland in which it makes no difference to us whether beings are or not, and then, in a distinctive form, the question resonates once again: Why are there beings at all instead of nothing? See—(Heidegger, 2000, pp. 1-2).

हैं जो इनके स्वयं के दार्शनिक सामंजस्य को चुनौती देते हैं। धार्मिक सृष्टिवाद एक सर्वोच्च स्रष्टा में समाधान खोजता है, किंतु तुरंत ही वह अशुभ की समस्या और उस स्रष्टा की प्रकृति से जुड़े तार्किक प्रश्नों से घिर जाता है। वहीं वैज्ञानिक सृष्टिवाद, जिसे प्रायः बिग बैंग को आद्य घटना के रूप में प्रस्तुत करते हुए देखा जाता है, अत्यधिक पूर्वानुमानात्मक शक्ति वाला मॉडल तो प्रदान करता है, परंतु अक्सर अपने ही सिद्धांत के तात्त्विक निहितार्थों से बचता दिखाई देता है। कई बार, जैसा कि स्टीफन हॉकिंग की भौगोलिक उपमा के प्रसंग में देखा जा सकता है, वह अपनी सीमाओं की रक्षा करते हुए श्रेणीगत त्रुटि भी कर बैठता है।

धार्मिक सृष्टिवाद अपने विविध रूपों में—जो विभिन्न धर्मों में पाए जाते हैं—अरबों लोगों के लिए अस्तित्वगत रूप से संतोषजनक कथा प्रस्तुत करता है। यह केवल सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी नहीं देता, बल्कि जीवन के उद्देश्य की भी व्याख्या करता है और मानव जीवन को एक दैवी योजना के भीतर स्थापित करता है। इस दृष्टि में ब्रह्मांड कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं, बल्कि एक रचना है, जिसमें मानवता को प्रायः एक विशेष और विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। यह दृष्टिकोण अंततः एक ऐसे अतींद्रिय, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ स्रष्टा की धारणा तक पहुँचता है, जो स्वयं अकारण है और सभी सापेक्ष अस्तित्वों की कारण-श्रृंखला से परे स्थित है। अनंत प्रतिगमन की समस्या के समाधान के रूप में यह धारणा सहज और प्रभावशाली प्रतीत होती है। यदि प्रत्येक कार्य का कोई कारण है, तो कारणों की श्रृंखला का अंत किसी ऐसे प्रथम कारण में होना चाहिए जो स्वयं कारण रहित हो-और धार्मिक चेतना इसी अंतिम बिंदु को ईश्वर के रूप में पहचानती है। किन्तु यही समाधान अनेक गहरे दार्शनिक प्रश्नों को भी जन्म देता है। इनमें सबसे प्राचीन और सबसे जटिल समस्या अशुभ की समस्या है। यदि स्रष्टा वास्तव में सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वथा कल्याणकारी है, तो फिर प्राकृतिक और नैतिक बुराइयों का अस्तित्व-जैसे सुनामी में निर्दोष बच्चों का मारा जाना, युवाओं को नष्ट कर देने वाले कैंसर, या मानव द्वारा की गयी यातना और नरसंहार-तार्किक रूप से समझाना कठिन हो जाता है। यहाँ एक अपरिहार्य त्रिविकल्प सामने आता है: यदि ईश्वर बुराई को रोकना चाहता है पर रोक नहीं सकता, तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है; यदि वह रोक सकता है पर रोकना नहीं चाहता, तो वह करुणाशील नहीं है; और यदि वह रोक भी सकता है और रोकना भी चाहता है, तो फिर अशुभ का अस्तित्व कैसे संभव है? इस समस्या के उत्तर में विभिन्न थियोडिसियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जो अशुभ की समस्या के होते हुए भी ईश्वर को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करती हैं। कुछ यह तर्क देती हैं कि अशुभ स्वतंत्र इच्छा का अनिवार्य परिणाम है और नैतिक

चुनाव की शर्त है। अन्य यह मानती हैं कि दुःख आत्म-निर्माण की प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सद्गुण और चरित्र की गहराई विकसित होती है। किन्तु व्यापक और निरर्थक प्रतीत होने वाले दुःख के सामने ये व्याख्याएँ प्रायः अपर्याप्त लगती हैं। स्वतंत्र इच्छा का तर्क नैतिक बुराई को तो कुछ हद तक समझा सकता है, पर भूकंप और रोग जैसी प्राकृतिक बुराइयों को नहीं, जो मानव निर्णयों से स्वतंत्र रूप से घटित होती हैं। आत्म-निर्माण का तर्क ईश्वर को एक प्रकार के महान उपयोगितावादी के रूप में प्रस्तुत करता है, जो किसी अज्ञात बड़े कल्याण के लिए व्यापक पीड़ा को उचित ठहराता है—ऐसा नैतिक गणित जिसे अनेक लोग अस्वीकार्य मानते हैं। इस प्रकार अशुभ की समस्या शास्त्रीय ईश्वरवादी सृष्टिवाद के सामने एक गंभीर—शायद दुस्तर—बाधा के रूप में बनी रहती है। यह या तो ईश्वर की शक्ति और करुणा को सीमित करती है, या उसे पूर्णतः अगम्य बना देती है, और कुछ दार्शनिकों के लिए तो यह उसकी सत्ता पर ही प्रश्नचिह्न लगा देती है।

इसके अतिरिक्त, सर्वशक्तिमान स्रष्टा की धारणा स्वयं कई तार्किक विरोधाभासों को जन्म देती है, जो ऐसी सत्ता की परिभाषा पर ही दबाव डालते हैं। प्रसिद्ध प्रश्न—“क्या ईश्वर इतना भारी पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं न उठा सके?”—केवल शब्दजाल नहीं है। यह असीम शक्ति की अवधारणा के भीतर छिपे तनाव को उजागर करता है। यदि ईश्वर ऐसा पत्थर नहीं बना सकता, तो उसकी शक्ति सीमित सिद्ध होती है। और यदि वह बना सकता है, तो फिर कुछ ऐसा है जो वह नहीं कर सकता—अर्थात् उसे उठाना—और इस प्रकार उसकी शक्ति फिर सीमित हो जाती है। इससे यह संकेत मिलता है कि सर्वशक्तिमत्ता की संकल्पना स्वयं तार्किक रूप से असंगत हो सकती है। इसी प्रकार, यह प्रश्न कि क्या स्रष्टा ऐसा संसार बना सकता है जिसे वह नियंत्रित न कर सके, उसी समस्या की ओर संकेत करता है। यह पूर्ण सत्ता और उस सृष्टि के बीच सामंजस्य पर प्रश्न उठाता है, जिसे वास्तविक स्वायत्तता और स्वतंत्र इच्छा प्राप्त हो। यदि संसार वास्तव में ईश्वर से भिन्न है और उसमें स्वतंत्र इच्छा है, तो क्या यह ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता या सर्वज्ञता पर सीमा नहीं लगाता? इन विरोधाभासों को सुलझाने का प्रयास प्रायः रहस्यवाद की ओर ले जाता है, जहाँ तर्क को स्थगित कर दिया जाता है और अकथनीय अनुभव को प्राथमिकता दी जाती है। इस स्थिति में स्रष्टा इतना “पराया” और अतीन्द्रिय बन जाता है कि शक्ति, ज्ञान और यहाँ तक कि कल्याण जैसे मानवीय प्रत्यय भी उस पर सार्थक रूप से लागू नहीं होते।

यद्यपि यह दृष्टि धर्मशास्त्रीय रूप से सुसंगत हो सकती है, फिर भी यह दर्शन के क्षेत्र से हटकर आस्था-प्रधान दृष्टिकोण (fideism) की ओर एक वापसी है, जहाँ

विश्वास तर्कसंगत आलोचना से परे हो जाता है। इस दृष्टि पर प्रमाण का भार बना रहता है। यह विरोधाभासों को हल करने के बजाय बहस की शर्तों को ही अमान्य घोषित कर देती है, जो सत्य की दार्शनिक खोज करने वाले के लिए अंततः असंतोषजनक है। धार्मिक व्याख्याओं की इन सीमाओं के प्रत्युत्तर में वैज्ञानिक सृष्टिवाद स्वयं को अधिक सुदृढ़ और प्रमाण-आधारित विकल्प के रूप में प्रस्तुत करता है। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि बिग बैंग सिद्धांत है, जिसे प्रचुर अनुभवजन्य प्रमाणों का समर्थन प्राप्त है—जैसे आकाशगंगाओं का लाल विचलन जो ब्रह्मांड के विस्तार को दर्शाता है, सर्वव्यापी ब्रह्मांडीय सूक्ष्मतरंग पृष्ठभूमि विकिरण, और हल्के तत्वों की प्रचुरता। यह सिद्धांत मानता है कि दृश्य ब्रह्मांड लगभग 13.8 अरब वर्ष पूर्व एक अत्यंत गर्म और सघन अवस्था से उत्पन्न हुआ और तब से निरंतर विस्तार तथा शीतलन की प्रक्रिया में है। यह सृष्टि-कथा धर्मग्रंथों में नहीं, बल्कि समय-स्थान की संरचना में अंकित है, जिसे गणित और प्रेक्षण के माध्यम से समझा जा सकता है। यह दृष्टिकोण धार्मिक सृष्टिवाद के मानवकेंद्रित विरोधाभासों से बचता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यह भौतिक नियमों पर आधारित एक निरपेक्ष कथा प्रस्तुत करता है। किंतु अपनी समस्त वैज्ञानिक सफलता के बावजूद, बिग बैंग सिद्धांत कोई अंतिम तात्त्विक उत्तर नहीं देता। यह बताता है कि ब्रह्मांड कैसे विकसित हुआ, पर इस प्रश्न पर मौन रहता है कि वह आद्य सिंगुलैरिटी क्यों अस्तित्व में आई, उससे पहले क्या था, या उसके प्रसार का कारण क्या था। यह समयगत आरंभ तो प्रदान करता है, किंतु वह अस्तित्वगत व्याख्या नहीं देता जिसकी मानवीय चेतना आकांक्षा रखती है। सृष्टि का प्रश्न एक कदम पीछे खिसक जाता है, पर समाप्त नहीं होता। बिग बैंग से पहले क्या था? उन भौतिक नियमों का स्रोत क्या है जिन्होंने उस घटना को संचालित किया? सिंगुलैरिटी पर सामान्य सापेक्षता के समीकरण विफल हो जाते हैं; समय और स्थान, जैसा कि हम जानते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं। यह एक मूलभूत रिक्ति है—एक ऐसा क्षितिज, जिसके परे हमारी वर्तमान भौतिकी नहीं देख सकती।

इसी सीमा-बिंदु पर पहुँचकर कुछ वैज्ञानिक, सिद्धांत की पूर्णता की रक्षा करने के प्रयास में, दार्शनिक स्तर पर त्रुटियाँ कर बैठते हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण स्टीफन हॉकिंग की उपमा है, जिसमें वे यह कहते हैं कि बिग बैंग से पहले क्या था, यह पूछना उतना ही अर्थहीन है जितना यह पूछना कि दक्षिण ध्रुव के दक्षिण में क्या है। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार दक्षिण ध्रुव पृथ्वी का अंतिम दक्षिणी बिंदु है और उसके आगे “दक्षिण” की संकल्पना निरर्थक हो जाती है, उसी प्रकार बिग बैंग स्वयं समय की शुरुआत है; इसलिए “उससे पहले क्या था” पूछना श्रेणीगत त्रुटि है। यह प्रश्न इस गलत मान्यता पर आधारित है कि समय, समय की शुरुआत से

पहले भी अस्तित्व में था। यह उपमा निस्संदेह आकर्षक और प्रभावशाली प्रतीत होती है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से यह अनुभवजन्य सत्य और पूर्वसिद्ध (a priori) ज्ञान के बीच भ्रम उत्पन्न करती है। दक्षिण ध्रुव का उदाहरण एक पश्चात्-ज्ञात (a posteriori) तथ्य है। मानव ने पृथ्वी का अन्वेषण किया और अनुभव के माध्यम से जाना कि वह उसका अंतिम दक्षिणी बिंदु है। यह तथ्य हमें पहले से ज्ञात नहीं था; हमने इसे खोजा। इसके विपरीत, यह दावा कि बिग बैंग समय की पूर्ण और अंतिम शुरुआत है, कोई गणितीय स्वयंसिद्ध जैसा पूर्वसिद्ध सत्य नहीं है। यह एक विशिष्ट भौतिक सिद्धांत—जैसे सामान्य सापेक्षता—और उपलब्ध अनुभवजन्य आँकड़ों से निकाला गया निष्कर्ष है। इसलिए इसे तार्किक रूप से अनिवार्य सत्य के रूप में प्रस्तुत करना, किसी विशेष ब्रह्मांडीय मॉडल को अनुचित रूप से पूर्वसिद्ध दर्जा देना है। यह एक सापेक्ष और आकस्मिक निष्कर्ष है, और ऐसे निष्कर्ष सदैव नए प्रमाणों या बेहतर सिद्धांतों के आलोक में संशोधन के लिए खुले रहते हैं (Popper, 2002)।

वास्तव में, क्वांटम गुरुत्वाकर्षण के कुछ सिद्धांत—जैसे लूप क्वांटम कॉस्मोलॉजी या ‘नो-बाउंडरी’ प्रस्ताव—ऐसे ब्रह्मांड की कल्पना करते हैं जिसमें कोई वास्तविक सिंगुलैरिटी नहीं है। इनमें कभी पूर्ववर्ती संकुचित अवस्था से “उद्दाल” की बात की जाती है, तो कभी शून्य से उत्पन्न क्वांटम उतार-चढ़ाव की। ये मॉडल सही हों या न हों, उनकी संभाव्यता मात्र यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि “समय की शुरुआत” कोई स्थापित तात्त्विक सत्य नहीं, बल्कि वैज्ञानिक अनुसंधान का एक विवादास्पद सीमांत क्षेत्र है। इस प्रकार हॉकिंग की उपमा कोई निर्णायक दार्शनिक उत्तर नहीं देती; वह केवल एक भाषणात्मक उपकरण बनकर सिद्धांत की आंतरिक सीमाओं को ढँक देती है और वैध तात्त्विक प्रश्नों को समय से पहले बंद कर देती है। यह एक वैज्ञानिक मॉडल के माध्यम से दार्शनिक समस्या को हल करने का प्रयास है, जो वैज्ञानिक पद्धति की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। धार्मिक सृष्टिवाद और बिग बैंग सृष्टिवाद की विशिष्ट आलोचनाओं से आगे बढ़कर, हम सभी सृष्टिवादी आख्यानो पर एक व्यापक दार्शनिक आलोचना भी कर सकते हैं। ये सभी मानव संज्ञान की संरचना से सीमित हैं। हमारा चिंतन मूलतः कारण और काल की श्रेणियों से संचालित होता है। हम अनिवार्य रूप से “पहले-बाद में” और “कारण-कार्य” के ढाँचे में ही सोचते हैं। यही हमारी समझ की आधारभूत संरचना है। परिणामस्वरूप, जब हम अंतिम उत्पत्ति के प्रश्न से जूझते हैं, तो हम इन्हीं श्रेणियों को ऐसे यथार्थ पर आरोपित कर देते हैं, जो संभवतः बिल्कुल भिन्न सिद्धांतों पर कार्य करता हो। हम “प्रथम कारण” या “प्रारंभिक घटना” की माँग इसलिए करते हैं, क्योंकि हमारा मस्तिष्क शुद्ध निरपेक्ष अस्तित्व या वास्तविक शाश्वतता को सीधे

ग्रहण नहीं कर पाता। इस कारण, चाहे हम ईश्वर की कल्पना करें या सिंगुलैरिटी की, हमारी प्रत्येक सृष्टि-कथा संभवतः हमारी संज्ञानात्मक सीमाओं का ही प्रक्षेपण होती है—एक ऐसा अनुवाद, जो हमें सांत्वना देता है, पर यथार्थ को विकृत भी कर सकता है। संभव है कि अस्तित्व की वास्तविक प्रकृति हमारे अनुभव से इतनी भिन्न हो कि हमारे प्रश्न ही त्रुटिपूर्ण हों। अंतिम उत्तर न तो “क्या”, न “कौन”, और न ही “कब” के रूप में हो, बल्कि हमारी संकल्पनात्मक रूपरेखा से पूर्णतः परे किसी आयाम में स्थित हो।

यहीं वह सीमा-बिंदु है जहाँ पारंपरिक सृष्टिवादी मॉडल अपनी श्रेणीगत सीमाओं के भार तले असफल हो जाते हैं, और हमें दार्शनिक दृष्टि से सबसे मूलभूत तात्त्विक प्रश्नों की ओर पुनः लौटने की आवश्यकता महसूस होती है—इस बार एक भिन्न दृष्टिकोण और भिन्न दार्शनिक परंपरा के माध्यम से। यह यात्रा हमें किसी नए प्रकार के उत्तर की ओर नहीं ले जाती, बल्कि प्रश्न की ही धारा और रूप को मूल रूप से पुनः परिभाषित करने की ओर ले जाती है, जो वर्तमान लेख का केंद्रबिंदु भी है। हमें पूछना होगा: क्या कोई वस्तु वास्तव में उत्पन्न हो सकती है, या यह हमेशा किसी न किसी रूप में अस्तित्व में रही है? यदि कोई वस्तु “उत्पन्न होती” है, तो क्या वह पहले से मौजूद से उत्पन्न होती है या किसी अ-अस्तित्व (निरर्थक) से? क्या “शून्यता” कभी “किसी वस्तु” का उत्पादन कर सकती है? और यदि वास्तविक शून्यता या पूर्ण असत्त्व जैसी कोई चीज़ नहीं है, तो सृष्टि और परिवर्तन प्रकट होने का अनुभव किन आधारों पर होता है? यही वे प्रश्न हैं जिन पर अजातीवाद-अनुत्पत्ति-सिद्धांत-हमें विचार करने के लिए आमंत्रित करता है। यह सिद्धांत प्रत्यक्ष और प्राचीन धारणा, जैसे “ex nihilo” (शून्य से सृष्टि) या आदिप्रकार से उत्पत्ति की धारणा, को चुनौती देता है और बताता है कि ऐसी खोज मूलतः एक मौलिक भ्रान्ति से उत्पन्न होती है। इस प्रकार के तर्क का पश्चिम में पहला उल्लेखनीय पूर्ववर्ती उदाहरण पार्मेनिडीज़ के कार्य में मिलता है, जो प्राचीन ग्रीक दर्शन के पहले व्यवस्थित दार्शनिकों में से एक थे। उन्होंने अपनी तर्क प्रक्रिया एक सरल किंतु शक्तिशाली अवलोकन से शुरू की: यदि कोई वस्तु अस्तित्व में है, तो वह “उत्पन्न नहीं हुई” हो सकती। तर्कतः केवल दो विकल्प हैं—वह या तो पहले से मौजूद से आती है (जो है) या किसी अ-अस्तित्व से (जो नहीं है)। यदि वह पहले से मौजूद से आती है, तो वास्तव में कुछ भी “उत्पन्न” नहीं हुआ; यह केवल पहले से मौजूद की पुनर्व्यवस्था है। और यदि वह कुछ नहीं से आती है, तो यह तार्किक रूप से असंगत है, क्योंकि कुछ भी “कुछ” उत्पन्न नहीं कर सकता।¹

1 See—(Geldard, 2007)

इस अचूक तर्क से, पार्मेनिडीज़ ने निष्कर्ष निकाला कि “भविष्यति” या यह धारणा कि वस्तुएँ जन्म लेती और नष्ट होती हैं, भ्रम है। जो वास्तव में अस्तित्व में है, वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ, कभी नष्ट नहीं होगा, और बस है—सनातन, अविभाज्य और अपरिवर्तनीय। उन्होंने गति (movement) के विचार को भी इसी तर्क से जोड़ा, यह कहते हुए कि गति के लिए खाली स्थान (एक “शून्यता”) आवश्यक है, जिसमें वस्तुएँ स्थानांतरित हो सकें। लेकिन यदि “शून्यता” अस्तित्व में नहीं है, तो खाली स्थान नहीं हो सकता, और इस प्रकार गति भी इन्द्रियों का भ्रम है। इसी प्रकार की दृष्टि और भी परिष्कृत रूप में भारतीय शास्त्रीय दर्शन में मिलती है, विशेष रूप से अद्वैत वेदांत परंपरा में और गौड़पाद के माण्डूक्यकारिका में इसका स्फटिक रूप दिखाई देता है, जो अजातीवाद की व्याख्या करता है। यह केवल समानता नहीं है, बल्कि अनुत्पत्ति का एक अधिक व्यापक और गहन विवेचन प्रस्तुत करता है। जहाँ पार्मेनिडीज़ ने एक अपरिवर्तनीय वास्तविकता की कल्पना की, वहीं अद्वैता वेदांत स्पष्ट रूप से बताता है कि सृष्टि का भ्रम (विवर्त) कैसे और क्यों प्रकट होता है, जबकि परम वास्तविकता, ब्रह्म, का अज, अविभाज्य और अनुत्पन्न स्वरूप अडिग रहता है। इसके अतिरिक्त, नागार्जुन का शून्यवाद अस्तित्व, अनास्थित्व, उत्पत्ति और नाश जैसी अवधारणाओं को भी निरस्त करता है, यह दर्शाते हुए कि उनका स्वतंत्र स्वभाव (स्वभाव-शून्यता) नहीं है। दोनों परंपराएँ, यद्यपि अलग भाषा और शैली में व्यक्त हैं, एक गहन दृष्टिकोण पर संगम करती हैं: कालिक प्रारंभ की खोज एक श्रेणीगत त्रुटि है, और परम सत्य सृजनकर्ता और सृष्टि, अस्तित्व और अनास्तित्व, उत्पत्ति और नाश जैसी द्वैतताओं से परे है।

कुछ विद्वान—जैसे श्री अरविंद—सृष्टिवाद (Creationism) में निहित असंगतियों और अंतर्विरोधों से बचने के लिए उत्क्रान्तिवाद (Evolutionism) का सहारा लेते हैं (Maitra, 1993)। उनका मानना है कि सृष्टि को किसी एक क्षणिक, बाह्य और यांत्रिक क्रिया के रूप में समझने के बजाय उसे चेतना की एक सतत, आंतरिक और क्रमिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से उत्क्रान्ति सृष्टि का निषेध नहीं, बल्कि उसका गहन और दार्शनिक रूपांतरण है। किन्तु अजातिवाद के समर्थक इस उत्क्रान्तिवादी दृष्टिकोण की भी तीखी आलोचना करने से नहीं हिचकते। उनके अनुसार न तो सृष्टि वास्तविक है और न ही उत्क्रान्ति; दोनों ही ब्रह्म के शुद्ध, अजन्मा और निर्विकल्प स्वरूप के सापेक्ष केवल बौद्धिक कल्पनाएँ हैं। इस परंपरा में गहराई से विचार करने वाले दार्शनिकों का मानना है कि उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास जैसी अवधारणाएँ अनुभवजगत की सीमाओं में तो अर्थ रखती हैं, पर परम सत्य के स्तर पर वे भ्रामक हैं। जी. आर. मल्कानी, उदाहरण के रूप में, श्री अरविंद के उत्क्रान्तिवाद के सबसे प्रमुख और गंभीर

आलोचकों में गिने जाते हैं। उन्होंने यह तर्क दिया कि उत्क्रान्ति का सिद्धांत भी अंततः कारणता, विकल्प और प्राकट्य जैसी श्रेणियों पर निर्भर करता है, जो परम ब्रह्म की अतीन्द्रिय और निरपेक्ष सत्ता के साथ संगत नहीं बैठतीं। इस प्रकार, मल्कानी की आलोचना अजातिवादी दृष्टि से यह दिखाने का प्रयास करती है कि उत्क्रान्तिवाद भी, सृष्टिवाद की तरह, अंतिम सत्य की व्याख्या करने में दार्शनिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं है।¹

प्रो. मल्कानी यह स्वीकार करते हैं कि श्री अरविंद का सृष्टि-सिद्धांत पुराने यांत्रिक सृष्टि-सिद्धांतों जैसा नहीं है, जहाँ ईश्वर को कुम्हार की तरह घट बनाते हुए सोचा गया था। वे मानते हैं कि श्री अरविंद के अनुसार ब्रह्म ही विश्व-रूप में प्रकट होता है और इस अर्थ में विश्व मायावाद की तरह जादुई भ्रम नहीं है। फिर भी वे ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप से सुपरमाइंड तक उत्क्रान्ति की प्रक्रिया के विवरण को समस्याग्रस्त मानते हैं। उनके अनुसार सच्चिदानंद में निहित अनंत संभावनाएँ एक साथ उपस्थित नहीं हो सकतीं; और यदि वे निहित ही हैं, तो कुछ भी नया वास्तव में सृजित नहीं होता। यहीं से वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कोई वास्तविक 'उद्घाटन' या 'प्रकटन' संभव नहीं है। अंततः प्रो. मल्कानी की समूची आलोचना विवर्तवाद और मायावाद के मूल पर आधारित है, जहाँ प्राकट्य का अर्थ केवल 'दिखना' रह जाता है। श्री अरविंद का मत यह है कि ब्रह्म वास्तविक रूप से सृष्टि करता है, और सृष्टि का अर्थ है अनंत संभावनाओं में से किसी एक का इस विशेष सृष्टि-काल में प्राकट्य। इसमें कुछ भी असत्य नहीं है। वास्तविकता केवल परम में निहित संभावना ही नहीं, बल्कि पृथ्वीगत उत्क्रान्ति में उसका साकार रूप भी है। इसके विपरीत, प्रो. मल्कानी का आग्रह अंततः वास्तविकता को ही निरस्त कर देता है और माया की मनमानी के सहारे अपने ही तर्क को रद्द करता है।

1 इस दृष्टि पर प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि मनुष्य का प्रादुर्भाव ही भ्रमात्मक है, तो वह किसके लिए है—स्वयं अपने लिए या उस ब्रह्म के लिए जो कभी भ्रमग्रस्त नहीं होता? यह सृष्टि-कथा या मानवीकरण आखिर किसकी कथा है और किसके लिए है? प्रो. मल्कानी का 'कोई कारण नहीं', 'अतीन्द्रिय कारण नहीं', 'केवल कथा', 'केवल आभास' जैसा आत्मविश्वासी कथन स्वयं भी बौद्धिक तर्क की एक कथा मात्र प्रतीत होता है—यथार्थ के क्षणभंगुर अनुभव के प्रति मानव बुद्धि की एक प्रतिक्रिया। इस दृष्टि से देखा जाए तो मानव और बुद्धि को अस्वीकार करने का खेल दोनों ओर से खेला जा सकता है। See—Aurobindo, S. (1943, August 20). *Talks* (A. B. Purani, Comp.). *The Incarnate Word*. <https://incarnateword.in>

मल्कानी की प्रमुख आपत्ति इस बात से जुड़ी है कि ब्रह्म ने अनंत संभावनाओं में से इसी विशेष संभावना को क्यों चुना। वे कहते हैं कि श्री अरविंद का आदर्शवाद अस्तित्व की सच्चाई पर नहीं, बल्कि एक सीमित विचार की मनमानी पर आधारित है—“ऐसा हो जाए।” प्रो. मल्कानी की आपत्ति यह है कि चेतना पहले से ही वास्तविक है, अतः किसी वास्तविक सृष्टि-क्रिया की आवश्यकता नहीं। यदि सृष्टि की कोई आवश्यकता मानी जाए तो उससे यह मान्यता पहले ही जुड़ जाती है कि जिसका निर्माण हुआ है उसका विघटन भी अवश्य होगा, और इस अर्थ में वह सनातन नहीं हो सकता। सनातन का आशय है जो न कभी उत्पन्न हुआ हो और न कभी नष्ट होगा, जबकि सृष्टि की कल्पना स्वयं उत्पत्ति-स्थिति-लय के चक्र को स्वीकार करके चलती है, इसलिए जो सृजित है वह अनिवार्यतः अनित्य है। इसी कारण उपनिषदिक और अद्वैत परंपरा ब्रह्म और जगत के बीच स्पष्ट भेद करती है, जहाँ ब्रह्म को अजन्मा, निरपेक्ष और सनातन माना जाता है, जबकि जगत को व्यवहारिक स्तर पर सत्य किंतु परिवर्तनशील कहा जाता है। इस दृष्टि में यह नहीं कहा जाता कि ब्रह्म को सृष्टि की आवश्यकता थी, बल्कि यह कि ब्रह्म में सृष्टि का आभास होता है, जैसे स्वप्न में जगत बिना किसी वास्तविक आवश्यकता के प्रकट हो जाता है; इसलिए जहाँ आवश्यकता की स्वीकृति है, वहाँ सनातनता का दावा टिक नहीं पाता। इस लेख का मुख्य उद्देश्य यही है कि अजातीवाद, सृष्टिवादी और विकासवादी मॉडलों की तुलना में सनातनता—शाश्वत, कालातीत और अनुत्पन्न—की अवधारणा को समझने के लिए अधिक संगत और दार्शनिक रूप से ठोस ढाँचा प्रदान करता है। यह चर्चा समय के किसी प्रथम बिंदु की खोज से आगे बढ़कर वास्तविकता की अस्तित्वगत और ज्ञानमीमांसात्मक प्रकृति की जाँच की ओर ले जाती है। हमें अनुभवजन्य रूप से यह सत्यापित करना असंभव हो सकता है कि चेतना, वास्तविकता या सत्य वास्तव में सनातन है। फिर भी, हम इसे तार्किक पूर्वसिद्ध (a priori) स्तर पर, और गहन तर्कसंगत आत्मावलोकन के माध्यम से समझ सकते हैं, न्यायोचित ठहरा सकते हैं और प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। अजातीवाद इस दृष्टि से खास है कि इसे उस सत्यापन के बोझ का सामना नहीं करना पड़ता जो धार्मिक और वैज्ञानिक सृष्टिवाद को बाधित करता है। यह किसी घटना को सिद्ध करने का दावा नहीं करता; बल्कि यह घटना की वास्तविकता को ही नकार देता है। अजातीवाद हमें दिखाता है कि जन्म, मृत्यु और परिवर्तन केवल भ्रम हैं और केवल वही वास्तविक है जिसका कोई आरंभ नहीं है। यहीं “उत्पन्न होने” की नकारात्मकता हमें सनातन तक सबसे सीधे और सकारात्मक रूप में पहुँचाती है।

संबंधमीमांसा और अजातिवाद विचार

अस्तित्व की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति पर विचार करते हुए हम अनिवार्य रूप से संबंध की धारणा तक पहुँचते हैं। जब हम यह पूछते हैं कि “कुछ है ही क्यों” या “ब्रह्मांड कैसे अस्तित्व में आया,” तो हम पहले से ही कारण-कार्य और स्रष्टा-सृष्टि जैसे संबंधों को मानकर चलते हैं। कारण और कार्य, स्रष्टा और सृष्टि, पहले और बाद—ये सभी धारणाएँ संबंध की पूर्वधारणा पर ही आधारित हैं। इस प्रकार, सृष्टिवाद (creationism) का पूरा बौद्धिक ढाँचा एक संबंधात्मक तत्वमीमांसा पर खड़ा होता है। धार्मिक हो या वैज्ञानिक—सृष्टिवाद का मूल दावा यह है कि जो जगत हमें दिखाई देता है, वह किसी वास्तविक और प्रभावी संबंध का परिणाम है। यह संबंध एक ऐसे प्रथम कारण और उसके परिणामों के बीच स्थापित किया जाता है, जिसे स्वयं कारणरहित माना जाता है। दूसरे शब्दों में, सृष्टिवाद यह मानता है कि वास्तविकता की संरचना क्रमिक, कारणात्मक और संबंधों से निर्मित है। किंतु जैसे ही हम इस मान्यता की दार्शनिक जाँच करते हैं, यह स्पष्ट होने लगता है कि सृष्टिवाद का मूल संकट इसी संबंध की अंतिम वास्तविकता को सिद्ध करने में निहित है।

यहीं पर सृष्टिवाद और अजातिवाद के बीच निर्णायक दार्शनिक विभाजन उभरता है। सृष्टिवाद के लिए जगत की वास्तविकता का प्रमाण उसके संबंधों की वास्तविकता से मिलता है; जबकि अजातिवाद के अनुसार जगत की असत्यता स्वयं इस तथ्य से उजागर हो जाती है कि कोई भी संबंध अंततः तार्किक रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। जहाँ सृष्टिवादी संबंध को वास्तविक मानकर अस्तित्व को समझने का प्रयास करता है, वहीं अजातिवादी संबंध की असंभवता दिखाकर अद्वैत सत्य की ओर संकेत करता है। भारतीय दर्शन में यह विवाद अत्यंत सूक्ष्म और गहन रूप में विकसित हुआ है। न्याय-वैशेषिक दर्शन संबंधों की वस्तुनिष्ठ वास्तविकता का सबसे व्यवस्थित प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत, अद्वैत वेदांत संबंधों का विघटन कर अद्वैत की स्थापना करता है। वहीं, बौद्ध दार्शनिक, विशेषतः नागार्जुन और धर्मकीर्ति, एक भिन्न ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टि से संबंध की धारणा पर तीव्र प्रहार करते हैं और इस समस्या को उसकी तार्किक सीमाओं तक ले जाते हैं। सृष्टिवाद की मूल प्रेरणा संबंधात्मक यथार्थवाद में निहित है। इसका केंद्रीय सिद्धांत कार्य-कारण संबंध है, जिसके अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई कारण होना आवश्यक है, और वह कारण कार्य से भिन्न, उससे पूर्व और उसे उत्पन्न करने में सक्षम होता है। यह केवल घटनाओं का क्रम नहीं, बल्कि एक वास्तविक उत्पादक संबंध माना जाता है। ईश्वरवादी सृष्टिवाद में यह संबंध ईश्वर की इच्छा और शक्ति के रूप में व्यक्त होता है। ईश्वर को जगत से पृथक एक स्वतंत्र सत्ता माना जाता है, जो अपनी इच्छा

से सृष्टि को उत्पन्न करता है। वैज्ञानिक सृष्टिवाद में यही भूमिका प्रारंभिक सिंगुलैरिटी या बिग-बैंग निभाता है, जिसे विस्तारित ब्रह्मांड का कारण माना जाता है। इन दोनों ही रूपों में सृष्टि एक संबंधों की श्रृंखला के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी दार्शनिक बाध्यता यह है कि उसे न केवल प्रथम कारण के अस्तित्व को सिद्ध करना होता है, बल्कि उस कारण और जगत के बीच स्थापित संबंध की वास्तविकता को भी प्रमाणित करना पड़ता है। यदि संबंध ही संदिग्ध हो जाए, तो पूरी सृष्टि-कथा अस्थिर हो जाती है। न्याय-वैशेषिक दर्शन इस यथार्थवादी दृष्टि को सबसे ठोस आधार प्रदान करता है। इसके अनुसार जगत स्वतंत्र और वास्तविक पदार्थों (dravya), गुणों (guṇa) और कर्मों (karma) से निर्मित है। किंतु इन पृथक् तत्वों से एक संगठित अनुभव-जगत की रचना तभी संभव है जब उनके बीच कोई वास्तविक जोड़ने वाला तत्व हो। यही तत्व समवाय (samavāya) है। समवाय को न्याय-वैशेषिक दर्शन एक शाश्वत और अविच्छिन्न संबंध मानता है, जिसमें एक वस्तु दूसरी में अंतर्निहित होती है। जैसे— गुलाब में लालिमा। विशेष रूप से, कारण और कार्य के बीच का संबंध समवाय के माध्यम से ही समझाया जाता है। सृष्टिवादी संदर्भ में यही संबंध सृष्टि को उसके कारण में अंतर्निहित मानने का आधार बनता है। समवाय स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु न्याय दर्शन इसे एक अनिवार्य तात्त्विक कोटि के रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि इसके बिना स्थिर और व्यवस्थित जगत की व्याख्या असंभव हो जाती है। इस प्रकार, संबंध की वास्तविकता ही जगत की वास्तविकता की गारंटी बन जाती है। यहीं पर अजातिवाद का हस्तक्षेप निर्णायक सिद्ध होता है। वह इस पूरी संरचना को उलट देता है—यह दिखाते हुए कि यदि संबंध को अंतिम रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता, तो उससे निर्मित जगत भी अंतिम सत्य नहीं हो सकता। अजातिवाद संबंध का निषेध करके न केवल सृष्टि की धारणा को नकारता है, बल्कि उस अद्वैत सत्य की ओर संकेत करता है जो न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, और न किसी से संबंधित होता है।

इस तर्क को हम एक अन्य ढंग से भी प्रस्तुत कर सकते हैं, और वह है सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद के द्वंद्व के रूप में। भारतीय दर्शन में कारण और कार्य के संबंध को समझाने के लिए ये दो प्रमुख सिद्धांत माने जाते हैं। दोनों ही सिद्धांत यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि किसी वस्तु की उत्पत्ति कैसे होती है, किंतु दोनों के तर्क अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं और अंततः गंभीर दार्शनिक कठिनाइयों का सामना करते हैं। इन दोनों के बीच विद्यमान तनाव ही आगे चलकर

अनिर्वचनीयता की धारणा तक ले जाता है, जो मायावाद को सिद्ध करता है और निष्कर्षतः अजातिवाद को भी पुष्ट करता है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कारण में पहले से ही निहित होता है। कार्य की उत्पत्ति किसी नई सत्ता का निर्माण नहीं, बल्कि उस सत्ता का प्रकट होना है जो कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान थी। उदाहरण के लिए, मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता है। सत्कार्यवाद यह कहता है कि घट मिट्टी में पहले से ही था और कुम्हार की क्रिया केवल उस निहित घट को प्रकट करती है। इस दृष्टिकोण का उद्देश्य यह दिखाना है कि कुछ भी पूर्णतः शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति तर्कसंगत नहीं है। इस प्रकार सत्कार्यवाद सृष्टि को एक प्रकार के अभिव्यक्तिकरण के रूप में समझता है। किन्तु यही सिद्धांत आगे चलकर एक गंभीर प्रश्न को जन्म देता है। यदि कार्य पूरी तरह से कारण में पहले से ही विद्यमान है, तो फिर कारण और कार्य के बीच वास्तविक परिवर्तन को कैसे समझाया जाए। यदि घट मिट्टी में पहले से ही मौजूद है, तो उसके निर्माण की प्रक्रिया अनावश्यक प्रतीत होती है। कारण की भूमिका केवल नाममात्र की रह जाती है। इस प्रकार सत्कार्यवाद अनुभव में दिखाई देने वाले परिवर्तन और नवीनता को संतोषजनक ढंग से स्पष्ट नहीं कर पाता। इसके विपरीत, असत्कार्यवाद यह मानता है कि कार्य कारण में पहले से विद्यमान नहीं होता। कार्य वास्तव में नया होता है और कारण के माध्यम से उत्पन्न होता है। मिट्टी से घट का निर्माण इस दृष्टि से एक नवीन वस्तु की उत्पत्ति है, जो पहले मिट्टी में नहीं थी। इस सिद्धांत का लाभ यह है कि यह परिवर्तन और नव्यता को सहज रूप से स्वीकार करता है और हमारे सामान्य अनुभव के अधिक निकट प्रतीत होता है। फिर भी, असत्कार्यवाद भी गंभीर दार्शनिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। यदि कार्य कारण में पहले से बिल्कुल नहीं था, तो वह उत्पन्न कैसे हुआ। यह मानना कि कोई वस्तु पूर्णतः शून्य से उत्पन्न हो सकती है, तर्क के स्तर पर असंभव लगता है। यदि घट मिट्टी में बिल्कुल नहीं था, तो मिट्टी से घट का उत्पन्न होना एक प्रकार की असंगति बन जाता है।

इस प्रकार असत्कार्यवाद शून्य से सृष्टि की समस्या में फँस जाता है और कारण-कार्य संबंध को तार्किक रूप से स्थापित नहीं कर पाता। इस प्रकार दोनों ही सिद्धांत अपने-अपने स्तर पर अधूरे सिद्ध होते हैं। एक ओर, तर्क यह स्वीकार नहीं करता कि कुछ भी पूर्णतः शून्य से उत्पन्न हो सकता है। दूसरी ओर, अनुभव यह दिखाता है कि कारण के पश्चात् कोई कार्य अवश्य प्रकट होता है। न तो हम तर्क के आधार पर उत्पत्ति को पूरी तरह नकार सकते हैं और न ही अनुभव को अस्वीकार कर सकते हैं। यही स्थिति एक गहरे दार्शनिक द्वंद्व को जन्म देती है। इसी द्वंद्व से अनिर्वचनीयता की धारणा उभरती है। कार्य न तो पूरी तरह से कारण में पहले से विद्यमान कहा

जा सकता है और न ही उसे पूरी तरह नवीन और कारण से असंबद्ध माना जा सकता है। कारण और कार्य का संबंध ऐसा है जिसे न पूर्ण रूप से 'है' कहा जा सकता है और न ही 'नहीं है'। यह स्थिति तर्क की स्पष्ट श्रेणियों में बाँधी नहीं जा सकती। अद्वैत वेदान्त इस समस्या को माया की संकल्पना के माध्यम से समझाता है। माया को न तो पूर्णतः वास्तविक कहा जा सकता है, क्योंकि वह तर्कसंगत रूप से स्वतंत्र और स्थायी सत्ता नहीं है, और न ही पूर्णतः अवास्तविक, क्योंकि वह अनुभव के स्तर पर निरंतर उपस्थित रहती है। जैसे रस्सी में साँप का भ्रम न तो वास्तविक साँप है और न ही पूर्णतः शून्य, उसी प्रकार जगत भी माया के कारण प्रतीत होता है। यह न तो पूरी तरह वास्तविक है और न ही पूरी तरह अवास्तविक। इस प्रकार सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का द्वंद्व यह स्पष्ट करता है कि कारण-कार्य संबंध को केवल तर्क के माध्यम से पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यह द्वंद्व हमें इस निष्कर्ष तक ले जाता है कि जगत और उसकी उत्पत्ति की स्थिति अनिर्वचनीय है।

यहाँ हम इस विषय को और अधिक विस्तृत रूप में नहीं करेंगे, चूँकि सम्बन्ध की समस्या पर दार्शनिक परम्पराओं में पहले ही व्यापक विमर्श उपलब्ध है (Gupta, 1984)। ओर जैसा कि पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट हुआ है, अजातिवाद की दार्शनिक दृष्टि के केंद्र में सत्ता-मीमांसा का एक मूलगामी पुनर्विचार निहित है। यह पुनर्विचार उत्पत्ति, कारणता और कालगत बनने-बिगड़ने को यथार्थ की अंतिम श्रेणियों के रूप में स्वीकार करने से स्पष्टतः इंकार करता है। अजातिवाद किसी विशेष सृष्टि-सिद्धांत का मात्र खंडन नहीं करता, बल्कि परम सत्य के स्तर पर उठाए गए 'उत्पत्ति' के प्रश्न की बौद्धिक संगति को ही निलंबित कर देता है (Mahadevan, 1960)। अंतिम विश्लेषण में न कुछ जन्म लेता है, न उत्पन्न होता है और न ही किसी कारण से निर्मित होता है। यह स्थिति न तो संशयात्मक विराम है और न ही अनुभव का मौन निषेध; बल्कि यथार्थ की संरचना के विषय में किया गया एक निर्णायक तत्त्वमीमांसात्मक दावा है। जो कुछ उदय और लय के रूप में प्रतीत होता है, वह केवल अज्ञान के अधीन कार्यरत एक प्रायोगिक बोध-स्तर से संबद्ध है। अतः मोक्ष—चाहे उसे मोक्ष कहा जाए या निर्वाण—काल में घटित होने वाली कोई उपलब्धि नहीं है, न क्रमिक साधना का परिणाम और न ही उपयुक्त कारणों से उत्पन्न कोई प्रभाव। वह उस सत्य की पहचान है जो सदा से और सर्वदा विद्यमान है। इसी दावे से अजातिवादी दर्शन का केंद्रीय विरोधाभास उत्पन्न होता है: यदि स्वतंत्रता सदा से वास्तविक है, तो बंधन का अनुभव कैसे संभव होता है, और कारणता को पुनः स्थापित किए बिना अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण को कैसे समझा जाए?

यही विरोधाभास एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण को जन्म देता है, जिसमें विमर्श के दो स्तरों को एक साथ स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है, किंतु उन्हें परस्पर गड़ु-मड़ु किए बिना। एक ओर परममार्थिक दृष्टिकोण है, जहाँ से कारणता, काल, प्रगति और परिवर्तन को मात्र वैचारिक प्रक्षेपण के रूप में देखा जाता है, जिनकी कोई अंतिम वैधता नहीं है। इस दृष्टि से न कुछ घटित होता है, न कुछ बदलता है और न ही कुछ प्राप्त किया जाता है। दूसरी ओर व्यवहारिक या व्यावहारिक दृष्टिकोण है, जिसके भीतर मनुष्य बंधन का अनुभव करता है, मोक्ष की आकांक्षा करता है, साधनाएँ करता है, तर्क करता है, संशय करता है, दुःख भोगता है और आशा करता है। सम्पूर्ण अजातिवादी दार्शनिक उपक्रम इन्हीं दोनों दृष्टियों के बीच के तनाव में विकसित होता है। यदि केवल परममार्थिक स्तर से ही बोला जाए, तो दार्शनिक विमर्श असंभव हो जाता है और नैतिक जीवन नियतिवाद में परिणत हो जाता है। यदि कोई केवल व्यवहारिक स्तर तक सीमित रह जाए, तो अजातिवाद जिस अंतर्दृष्टि को उद्घाटित करना चाहता है, वही ओझल हो जाती है। अतः लक्ष्य दोनों को समन्वित करना नहीं है, बल्कि व्यवहारिक स्तर को एक साधन के रूप में ग्रहण करना है—एक ऐसी सीढ़ी के रूप में, जिसे अंततः त्याग दिया जाना है; एक ऐसा माध्यम, जो सफल होते ही अपनी अपर्याप्तता को स्वयं प्रकट कर देता है।

इसी ढाँचे के भीतर 'परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण)' (leap) की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है (Potter, 1991)। अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण न तो सख्त अर्थ में क्रमिक है और न ही किसी संचयी प्रयास का अंतिम परिणाम। यह दृष्टि में घटित होने वाला एक असतत परिवर्तन है, जिसमें यथार्थ को समझने का पूरा ढाँचा ही बदल जाता है। व्यक्ति सत्य के निकट धीरे-धीरे नहीं पहुँचता; बल्कि वह अचानक यह पहचान लेता है कि जिस वैचारिक व्यवस्था के भीतर निकटता और दूरी का बोध संभव था, वही व्यवस्था मूलतः त्रुटिपूर्ण थी। परममार्थिक दृष्टि से यह परिवर्तन कोई कालगत घटना नहीं है, यद्यपि अनुभव के स्तर पर वह एक घटना के रूप में ही प्रतीत होता है। दार्शनिक समस्या यह है कि इस परिवर्तन की व्याख्या करते समय कहीं कारणता, कर्तृत्व या उत्पादन की धारणाओं को उसी निर्णायक क्षण पर पुनः न ले आया जाए, जिनका अजातिवाद खंडन करता है। इसी कारण अजातिवादी परंपराएँ इस बिंदु पर सावधानी बरतती हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि मुक्ति उत्पन्न नहीं होती; वह केवल पहचानी जाती है। अजातिवाद के अधिक बौद्धिक और विश्लेषणात्मक रूपों में यह माना जाता है कि यह 'परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण)' अनुशासित विचार-जाँच और कठोर तर्कात्मक आलोचना के माध्यम से संभव होती है। यहाँ बुद्धि को मुक्ति में

बाधा नहीं माना जाता, बल्कि उसे वही साधन समझा जाता है जो अपनी सीमा तक पहुँचकर स्वयं को निरस्त कर देता है और स्पष्ट बोध में परिणत हो जाता है। इस दृष्टिकोण का सबसे सुसंगत और कठोर रूप नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में मिलता है। नागार्जुन स्वभाव की धारणा की आलोचना से आरंभ करते हैं—अर्थात् इस विश्वास की कि वस्तुओं का कोई ऐसा अंतर्निहित स्वरूप होता है जो परिस्थितियों से स्वतंत्र रहता है। वे दिखाते हैं कि लगभग सभी तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धांत, चाहे यथार्थवादी हों या आदर्शवादी, व्याख्या को आधार देने के लिए किसी न किसी रूप में स्वभाव को मान लेते हैं। एक बार स्वतंत्र सार को स्वीकार कर लिया जाए, तो कारणता समझाने योग्य बन जाती है, द्रव्यों में गुण जोड़े जा सकते हैं और परिवर्तन को किसी स्थायी आधार में होने वाला संशोधन माना जा सकता है। नागार्जुन का उद्देश्य इस पूरे ढाँचे को तर्क के माध्यम से अस्थिर करना है।

प्रसंग-विधि के प्रयोग से नागार्जुन यह स्पष्ट करते हैं कि कारणता की प्रत्येक व्याख्या अंततः विरोधाभास में फँस जाती है (Bhattacharya, 2002)। यदि कारण और कार्य एक ही हों, तो कारणता का कोई अर्थ नहीं रह जाता; और यदि वे भिन्न हों, तो उनके बीच संबंध को समझाया नहीं जा सकता। यदि कार्य कारण से पहले ही विद्यमान हो, तो उत्पत्ति निरर्थक हो जाती है; और यदि वह सर्वथा अविद्यमान हो, तो उसे उत्पन्न करना असंभव हो जाता है। इसी प्रकार, क्रमिक कारणता और समकालिक कारणता—दोनों ही असंगत सिद्ध होती हैं; आत्म-कारणता और पर-कारणता भी समान रूप से अविवेच्य हैं। नागार्जुन का निष्कर्ष यह नहीं है कि कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, बल्कि यह है कि अस्तित्व को अंतर्निहित, स्वतंत्र सत्ता के रूप में नहीं समझा जा सकता। जो कुछ भी है, वह परतंत्र, संबंधात्मक और सापेक्ष रूप में है। इसी परतंत्र उत्पत्ति को, जब किसी ठोस सत्ता के रूप में न देखा जाए, शून्यता कहा जाता है। शून्यता को न तो प्रत्यक्ष जगत के पीछे स्थित किसी छिपे हुए आधार के रूप में समझना चाहिए और न ही उसे अनुभूत जगत के विरोध में स्थित किसी परात्त्विक परम तत्त्व के रूप में। शून्यता का अर्थ केवल इतना है कि समस्त प्रपञ्च में स्वभाव का अभाव है। इसे देखना यह समझना है कि वास्तव में कभी कुछ उत्पन्न हुआ ही नहीं, क्योंकि उत्पत्ति की धारणा स्वयं इस मान्यता पर आधारित होती है कि कोई स्वतंत्र सत्ता अस्तित्व में आती है। इसी बिंदु पर शून्यता से अजातिवाद सीधे रूप में निष्पन्न होता है: जहाँ अंतर्निहित सत्ता नहीं है, वहाँ वास्तविक जन्म की संभावना भी नहीं हो सकती। अतः मुक्ति का अर्थ इस शून्यता का प्रत्यक्ष बोध है—ऐसा बोध जो मन की उस आग्रहपूर्ण प्रवृत्ति को समाप्त कर देता है, जिसके द्वारा वह संकल्पनात्मक भेदों को यथार्थ मानकर उनसे चिपक जाता है। यहाँ प्रयुक्त द्वंद्वात्मक विधि किसी नए

तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धांत का निर्माण नहीं करती; वह सभी सिद्धांतों को एक-एक करके निराधार सिद्ध कर देती है। जब संकल्पनात्मक विस्तार समाप्त हो जाता है, तब जो शेष रहता है वह कोई दार्शनिक मत नहीं, बल्कि देखने का एक रूपांतरित ढंग होता है। यह 'परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण)' ठीक उसी क्षण घटित होती है, जब चिंतन स्वयं अपनी आधारहीनता और सीमाओं को पहचान लेता है।

अद्वैत वेदान्त में भी इसी प्रकार की तर्क-संरचना मिलती है, विशेषतः सुरेश्वर के लेखन में, जहाँ वे मुक्तिदायक ज्ञान के आकस्मिक और पूर्ण स्वरूप पर बल देते हैं (Roodurmum, 2002)। सुरेश्वर के अनुसार अज्ञान क्रमशः क्षीण नहीं होता, बल्कि यथार्थ ज्ञान के उदय के साथ एक साथ पूर्णतः निरस्त हो जाता है। आत्मा और अनात्मा के विवेक, वैराग्य तथा चित्त-शुद्धि जैसी साधनाएँ केवल इस सीमा तक आवश्यक हैं कि वे मन को उस निर्णायक बोध को ग्रहण करने योग्य बनाती हैं। स्वयं मुक्ति इन साधनों से उत्पन्न नहीं होती। वह बोध महावाक्य के श्रवण से उद्भूत होता है—अर्थात् ऐसे श्रुतिवाक्य से, जो जीवात्मा और ब्रह्म की अभिन्नता को प्रत्यक्ष रूप से उद्घाटित करता है। इस संदर्भ में तर्क की भूमिका रचनात्मक न होकर नकारात्मक और स्पष्टकारी है। वह भ्रान्त धारणाओं और मिथ्या अभिज्ञानों को दूर करता है, किंतु स्वयं मुक्ति का कारण नहीं बनता। जब सत्य का बोध होता है, तब बंधन की संपूर्ण संरचना प्रारंभ से ही मायिक प्रतीत होती है। साधक और साध्य, अज्ञान और ज्ञान, बंधन और मुक्ति—इन सभी के बीच का भेद ढह जाता है। उस बोध की दृष्टि से न कोई प्रक्रिया घटित हुई है, न कोई यात्रा संपन्न हुई है और न ही किसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई है। इस प्रकार अजातिवाद अपने कठोर रूप में सुरक्षित रहता है: न ब्रह्म ने जगत का रूप धारण किया है और न आत्मा किसी स्रोत में वापस लौटी है। जो कुछ 'बनना' प्रतीत हुआ था, वह केवल भ्रान्त बोध था। सुरेश्वर का ज्ञान की तात्कालिकता पर आग्रह परम सत्य के स्तर पर अकारणता के प्रति उनकी गहन प्रतिबद्धता को प्रकट करता है। यदि मुक्ति को किसी प्रक्रिया का परिणाम कहा जाए, तो वही अद्वैत दूषित हो जाएगा, जिसकी पुष्टि करना उसका उद्देश्य है। टी.एम.पी. महादेवन के अनुसार अजातिवाद के पक्ष में तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

जो लोग मूल सत्ता (Being) के परिवर्तन (परिणाम/परिणामवाद) में विश्वास करते हैं और उसे जगत में बदलते हुए देखते हैं, वे वास्तव में यह मानते हैं कि अजन्मा जन्म लेता है। परंतु यह कथन स्पष्ट विरोधाभास है कि अजन्मा जन्म ले रहा है। जब कोई वस्तु जन्म लेती है, तो वह अब अजन्मी नहीं रहती। अतः इस विवाद में यह कहा जाना चाहिए कि जो जन्म लेता है वह कुछ और रूप में जन्म

लेता है। लेकिन यह तर्क संतोषजनक नहीं है, क्योंकि इससे कारणों की अनंत खोज की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इसलिए, केवल वास्तविक वस्तु के लिए ही जन्म को माया के माध्यम से समझा जा सकता है, वास्तविकता में नहीं। नास्तिक (असद्वादी) यह मानते हैं कि जो जगत् दिखाई देता है वह असत् (अवास्तविक) से उत्पन्न हुआ है; यानी, जो अस्तित्वहीन है वह जन्म लेता है। परंतु यह दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जो अस्तित्वहीन है, वह न वास्तविक रूप से (तत्त्वतः) न माया के माध्यम से जन्म ले सकता है। जैसे बाँझ स्त्री का पुत्र (बंध्य-पुत्र) न वास्तविक रूप में न माया के माध्यम से जन्म लेता है, वैसे ही असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि केवल वास्तविक वस्तु को जन्म देने वाला कहा जा सकता है, और वह भी वास्तविक रूप से नहीं बल्कि केवल माया के माध्यम से। जैसे स्वप्न में एक जगत् कल्पित रूप से उत्पन्न होता है, वैसे ही जाग्रत अवस्था में भी मन माया के माध्यम से जगत् का भ्रम उत्पन्न करता है, जिसमें दृष्टा और दृश्य, कारण और परिणाम आदि के भेद शामिल होते हैं। इस प्रकार माया के माध्यम से दिखाई देने वाला बहुलतावादी जगत् अवास्तविक है। वास्तविकता केवल आत्मा-तत्त्व (अहंकार रहित, अजन्मा और अद्वैत) है। (Mahadevan, 1960.p.131)

यह तर्क प्रकाशानंद से संबद्ध ज्ञानमीमांसात्मक एकान्तवाद में और अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है (Roodurmum, 2002)। यहाँ अनुभव के विभिन्न स्तरों को शिक्षण-सुविधा के रूप में स्वीकार करना भी अस्वीकार कर दिया जाता है। स्वप्न और जाग्रत अनुभव को समान स्तर पर रखा जाता है और दोनों को चेतना के भीतर घटित होने वाले प्राकट्य मात्र माना जाता है, जिनका कोई बाह्य सहसंबंध नहीं है। स्रष्टा ईश्वर, साक्षात् जगत् या अन्य स्वतंत्र जीवों की धारणा को केवल एक व्याख्यात्मक कल्पना माना जाता है, जो यथार्थ ज्ञान के उदय से पूर्व ही उपयोगी है। अजातिवादी दृष्टि से यहाँ तक कि ब्रह्म को जगत् का कारण कहना भी रूपकात्मक समझा जाता है—उनके लिए एक अस्थायी उपाय, जो अभी भी कारणता की भाषा में सोचते हैं। वास्तव में कारणता कभी कार्यरत ही नहीं थी, और जगत् के प्राकट्य का प्रश्न अंततः अर्थहीन सिद्ध होता है। इस ढाँचे में मुक्ति का अर्थ किसी स्वतंत्र रूप से विद्यमान जगत् के विषय में हुई त्रुटि को सुधारना नहीं है, बल्कि यह देखना है कि वह त्रुटि स्वयं कभी वास्तविक रूप से उत्पन्न ही नहीं हुई थी। अज्ञान का न कोई सकारात्मक स्वरूप है और न ही कोई वास्तविक आधार; वह निराधार अध्यास मात्र है। ज्ञान के उदय के साथ प्राकट्य की पूरी संरचना बिना किसी अवशेष के विलीन हो जाती है—यहाँ तक कि अज्ञान की वह धारणा भी, जो पहले स्पष्टीकरण की माँग करती प्रतीत होती थी। यहाँ 'परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण)' पूर्ण और अनन्य है। न कोई चरण हैं, न कोई आश्वासन और न ही कोई

बाह्य सहायता। या तो व्यक्ति जाग्रत है, या नहीं है। यद्यपि यह स्थिति आंतरिक रूप से अत्यंत संगत प्रतीत होती है, तथापि यह कठोर अजातिवाद की अस्तित्वगत कठोरता को भी उजागर करती है। यह मार्ग केवल उन्हीं के लिए सुलभ है, जो प्रत्येक प्रकार के तत्त्वमीमांसात्मक आश्वासन को त्यागने के लिए तैयार हों।

अजातिवादी परंपराओं का एक अन्य समूह इस कठोरता का उत्तर कर्तृत्व (agency) की भूमिका को नए रूप में समझाकर देता है, बिना अउत्पत्ति के मूल तत्त्व को छोड़े हुए। इन दृष्टियों में भी मुक्ति की 'परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण)' कारणजन्य नहीं होती, किंतु उसे केवल व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता का परिणाम नहीं माना जाता। इसके स्थान पर उसे दैवी अनुग्रह पर आश्रित समझा जाता है। अज्ञान में फँसा हुआ व्यक्ति अपने प्रयास से मुक्ति की शर्तें उत्पन्न नहीं कर सकता, किंतु भक्ति, शरणागति और विनय के अभ्यास द्वारा स्वयं को उसके लिए तैयार अवश्य कर सकता है। तर्क और दर्शन यहाँ भी महत्त्वपूर्ण रहते हैं, पर उनकी भूमिका निर्णायक न होकर पूर्वतैयारी की होती है। इस प्रकार की रूपरेखाओं में अजातिवाद परम सत्य के स्तर पर सुरक्षित रहता है, जबकि व्यवहारिक स्तर पर आश्रय और अनुग्रह की भाषा का प्रयोग किया जाता है। भक्ति से मुक्ति किसी प्रभाव के रूप में उत्पन्न नहीं होती, न ही ईश्वर समय में उसे 'उत्पन्न' करता है। अनुग्रह का अर्थ केवल इतना है कि जो सत्य सदा से विद्यमान था, वही प्रकट हो जाता है। सापेक्ष दृष्टि से यह प्राकट्य ईश्वर की कृपा के रूप में दिखाई देता है; परम दृष्टि से कुछ भी नया घटित नहीं होता। यहाँ भी परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) बनी रहती है, पर वह आत्म-प्रेरित बोध के रूप में नहीं, बल्कि प्राप्त होने वाले सत्य के रूप में समझी जाती है—उपलब्धि नहीं, स्वीकृति।

इन विभिन्न अभिव्यक्तियों में एक समान कथात्मक संरचना दिखाई देती है। संशय की भूमिका सभी में केंद्रीय है, किंतु उसका मूल्यांकन भिन्न-भिन्न ढंग से किया जाता है। अधिक तर्कप्रधान अजातिवाद में संशय जिज्ञासा की प्रेरक शक्ति है, जो द्वंद्वात्मक विश्लेषण को तब तक आगे बढ़ाती है, जब तक सभी वैचारिक स्थितियाँ ढह न जाएँ। अधिक भक्तिपरक रूपों में संशय को अहंकार या आत्मनिर्भरता की भ्रान्ति का लक्षण माना जाता है, जिसे तर्क से नहीं बल्कि शरणागति से पार किया जाता है। किंतु दोनों ही स्थितियों में संशय व्यवहारिक क्षेत्र से संबंधित है और परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) के क्षण में विलीन हो जाता है। इसी प्रकार साधन और साध्य का संबंध भी पुनः परिभाषित किया जाता है। आध्यात्मिक अभ्यास, तर्क और अनुशासन मुक्ति के कारण नहीं होते; वे ऐसे उपकरण हैं जो अंततः स्वयं को निरस्त कर देते हैं। उनका उपयोग केवल इसलिए किया जाता है कि अंत में उन्हें

छोड़ा जा सके। अजातिवादी दृष्टि से साधन-साध्य का विचार स्वयं उसी भ्रांति का अंग है, जिसे समझकर त्यागना आवश्यक है। परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) तब घटित होती है जब यह संरचना त्याग दी जाती है, न कि तब जब वह पूर्ण होती है। स्वयं परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) का क्षण वर्णन से परे रहता है। वह न तो अन्य अनुभवों में जोड़ा जाने वाला कोई नया अनुभव है, न कोई ऐसी अवस्था जिसे स्मरण या पुनरुत्पादन किया जा सके। वह आत्म-पहचान का पुनर्संयोजन है, जिसके बाद पूर्ववर्ती सभी वर्णन अपर्याप्त हो जाते हैं। चाहे उसे शून्यता का बोध कहा जाए, अद्वैत की पहचान कहा जाए, या अनुग्रह में शरणागति—वह उस ढाँचे के पतन को सूचित करता है, जिसके भीतर बंधन का अर्थ था। जो शेष रहता है, वह कोई नया तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धांत नहीं, बल्कि सदा से उपस्थित सत्य के प्रति एक परिवर्तित दृष्टिकोण है। समकालीन संदर्भ में समस्या यह है कि वह अस्तित्वगत पृष्ठभूमि धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है, जिसने कभी इन दर्शनों को जीवंत बनाए रखा था। जब अजातिवाद को केवल ऐतिहासिक सिद्धांत या दार्शनिक जिज्ञासा के रूप में लिया जाता है, तो उसकी विघटनकारी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है।

आधुनिक समन्वय अक्सर समावेशन और सहिष्णुता का उत्सव मनाते हैं, किंतु चुपचाप संपूर्ण रूपांतरण की माँग को छोड़ देते हैं। परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) रूपक बन जाती है और विरोधाभास सहज बना दिया जाता है। अकादमिक विमर्श, अपनी उपयोगिता के बावजूद, अस्तित्वगत जोखिम के स्थान पर विश्लेषणात्मक दूरी को स्थापित कर देता है। फिर भी, जो लोग अजातिवाद से गंभीर रूप से जुड़ने को तैयार हैं, उनके लिए उसकी चुनौती आज भी यथावत है। वह मानव प्रयास की गहरी मान्यताओं पर प्रश्न उठाता है—कि समय मूल्य उत्पन्न करता है, कि प्रयास परिणाम की गारंटी देता है, और कि स्वतंत्रता अर्जित करनी पड़ती है। इन मान्यताओं के विरुद्ध अजातिवाद यह प्रतिपादित करता है कि उत्पादन का तर्क ही बंधन का मूल है। स्वतंत्रता हमारे आगे नहीं है; वह यहीं और अभी भ्रांत रूप से पहचानी जा रही है। चाहे कोई इस पहचान तक तर्क से पहुँचे या शरणागति से, द्वंद्वात्मक विश्लेषण से या भक्ति से—माँग एक ही है: कारणता की सुरक्षा को त्याग देना। यह परिदृष्टि-परिवर्तन (दृष्टांतरण) शून्य में नहीं, बल्कि इस भ्रम से बाहर है कि कभी कुछ मूलभूत रूप से अभाव में था। इसी अजातिवादी बोध में सनातनता निहित है।

ऐसे समय में, जब वैज्ञानिकतावाद बौद्धिक विमर्श पर लगातार प्रभुत्व स्थापित करता जा रहा है और उसके साथ-साथ नव-उदारवादी निहितार्थ—विशेषतः हर वस्तु के, यहाँ तक कि आध्यात्मिकता के भी, वस्तुकरण—तेजी से बढ़

रहे हैं, इस प्रकार की दर्शन-दृष्टि का महत्व अत्यंत बढ़ जाता है। इस संदर्भ में दर्शन मात्र एक सैद्धांतिक चिंतन नहीं रह जाता, बल्कि वह हमारी कालातीतता की ओर उन्मुखता तथा नश्वरता और अनित्यता से उत्पन्न हमारे अस्तित्वगत भय को पहचानने का एक आलोचनात्मक साधन बन जाता है। शास्त्रीय भारतीय दर्शन में अभिनिवेश—अर्थात् जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति, मृत्यु का भय और निरंतरता से चिपके रहने की प्रवृत्ति—को एक गुण नहीं, बल्कि एक मूल दोष माना गया है। दार्शनिक और योगिक परंपराएँ निरंतर इस प्रवृत्ति से मुक्त होने की सलाह देती हैं, क्योंकि यही चेतना को दुःख और अविवेक से बाँधती है। अष्टांग योग, क्रिया योग तथा अन्य साधनात्मक मार्ग नैतिक अनुशासन, ध्यानात्मक अभ्यास और अनुभूति-आधारित बोध के माध्यम से इस स्थिति के अतिक्रमण का प्रयास करते हैं। किन्तु केवल साधना-पद्धतियों तक सीमित न रहते हुए, अजातिवाद के आलोक में सनातनता की अनुभूति इस अस्तित्वगत संकट का एक अत्यंत व्यापक दार्शनिक उत्तर प्रस्तुत करती है। परम स्तर पर उत्पत्ति के निषेध के माध्यम से अजातिवाद उन आधारों को ही विघटित कर देता है जिन पर भय, आसक्ति और चिंता टिके होते हैं। यह अमरता को काल में अनंत बने रहने के रूप में नहीं, बल्कि जन्म और मृत्यु की श्रेणियों से पूर्ण मुक्ति के रूप में पुनर्परिभाषित करता है। इस अर्थ में अजातिवाद न तो अनुभवजगत् का निषेध करता है और न ही साधना को अप्रासंगिक बनाता है; बल्कि वह उन्हें उनकी गहनतम तात्त्विक संगति प्रदान करता है। इसके माध्यम से सनातनता को समय के भीतर निरंतरता के रूप में नहीं, बल्कि कालातीतता के अतिक्रमण के रूप में समझा जाता है, जो एक साथ दार्शनिक रूप से सुसंगत और अस्तित्वगत रूप से रूपांतरकारी दृष्टि प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष : सनातन दर्शन में अजातिवाद की केन्द्रस्थता

इस लेख की शुरुआत हमने इस बिंदु से की थी कि मानव चिंतन की गहराइयों में यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि अस्तित्व क्यों है और सर्वथा शून्यता क्यों नहीं। इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में हमने यह विक्षेपित किया कि अजातिवाद के आलोक में यह प्रश्न स्वयं अपनी सीमाओं को उजागर करता है, क्योंकि जहाँ उत्पत्ति का निषेध किया जाता है, वहाँ 'होने' और 'न होने' का द्वैत ही विघटित हो जाता है। इस दृष्टि से सनातनता किसी उत्पन्न सत्ता की निरंतरता नहीं, बल्कि उस कालातीत सत्य की ओर संकेत करती है जो न तो किसी कारण से उत्पन्न होता है और न ही किसी अभाव में विलीन होता है। इस प्रकार अजातिवाद इस प्रश्न का उत्तर देने के बजाय उसके आधारभूत वैचारिक ढाँचे को ही रूपांतरित कर देता है और अस्तित्व को न 'कुछ' के रूप में स्थापित करता है, न 'शून्य' के रूप में, बल्कि एक ऐसे अनुत्पन्न

सत्य के रूप में, जो समस्त प्रश्नों से पूर्व विद्यमान है। भारतीय दर्शन परंपराएँ सनातनता की अवधारणा को लेकर अत्यंत विविध दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। पूर्ववर्ती विवेचन में हमने एक विशिष्ट विकल्प, अजातिवाद, अर्थात् अनुत्पत्ति के सिद्धांत का परीक्षण किया था। इससे स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विशिष्टाद्वैत, द्वैत अथवा सांख्य-योग जैसी अन्य दार्शनिक परंपराएँ सनातनता को किस प्रकार समझती हैं। क्या वे भी किसी न किसी रूप में शाश्वतता का प्रतिपादन नहीं करती? निस्संदेह, वे ऐसा करती हैं, किंतु भिन्न-भिन्न वैचारिक संरचनाओं के माध्यम से। उदाहरणतः द्वैत वेदांत यह तर्क प्रस्तुत करता है कि ईश्वर की लीला के अंतर्गत सृष्टि और प्रलय एक शाश्वत तथा चक्रीय प्रक्रिया का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से सृष्टिवाद को भी सनातनता के साथ समीकृत किया जा सकता है, क्योंकि जगत की व्यवस्था निरंतर अभिव्यक्ति और लय के मध्य गतिशील रहती है और कभी भी पूर्ण अभाव में नहीं गिरती। इसी प्रकार सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष का संयोग सृष्टि-प्रक्रिया को जन्म देता है, जबकि उनका वियोग कैवल्य अथवा मुक्ति की ओर ले जाता है। तथापि यह प्रक्रिया आदि और अंत से रहित मानी जाती है, क्योंकि प्रकृति अन्य पुरुषों के लिए अपनी क्रियाशीलता को निरंतर बनाए रखती है। इस प्रकार सांख्य भी अपने तत्त्वमीमांसात्मक आधारों की शाश्वतता के माध्यम से सनातनता का प्रतिपादन करता है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से मूल प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सी परंपरा किसी न किसी रूप में सनातनता को स्वीकार करती है, बल्कि यह है कि कौन-सा तात्त्विक ढाँचा इसे सर्वाधिक सुसंगत और व्यापक रूप में स्पष्ट करता है।

इस शोधपत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि अजातिवाद सनातनता की सर्वाधिक मौलिक और तात्त्विक रूप से संगत व्याख्या प्रस्तुत करता है। उत्पत्ति के सर्वथा निषेध के माध्यम से अजातिवाद उन आंतरिक विरोधाभासों से बचता है, जो शाश्वतता को वास्तविक सृष्टि, परिवर्तन अथवा विनाश के साथ जोड़ने पर उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टिकोण से उत्पत्ति और लय की समस्त प्रक्रियाएँ अंतिम सत्य की अपेक्षा अनुभवजन्य स्तर की मानी जाती हैं। अजातिवाद की विशेष शक्ति उसकी समावेशी क्षमता में निहित है। अद्वैत वेदांत में प्रतिपादित द्विसत्य सिद्धांत, अर्थात् व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य के भेद, अन्य हिंदू दर्शनों की अंतर्दृष्टियों को नकारे बिना अपने भीतर समाहित कर लेता है। सृष्टिवादी व्याख्याएँ, द्वैतात्मक संरचनाएँ तथा विकासात्मक ब्रह्मांड-कल्पनाएँ व्यावहारिक स्तर पर मान्य रहती हैं, जबकि अजातिवाद पारमार्थिक स्तर पर एक अनुत्पन्न, कालातीत और शाश्वत वास्तविकता को सुरक्षित रखता है। इस प्रकार अजातिवाद अन्य दर्शनों के साथ केवल प्रतिस्पर्धा नहीं करता, बल्कि उन्हें सनातनता की एक अधिक व्यापक

तात्त्विक दृष्टि में अंतर्भूत कर देता है। और यह ऐसा भी नहीं है कि यह किसी भारतीय परंपरा से हटकर कोई विचित्र सिद्धांत हो। जैसा कि हमने देखा, अजातिवाद (अर्थात् अनुत्पत्ति या अनुत्पाद) की अवधारणा महायान बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदांत—इन दोनों परंपराओं में एक साथ समानता और गहरे मतभेद का बिंदु प्रस्तुत करती है। यह सिद्धांत न केवल शाश्वतता की अवधारणा को गहराई से समझने का माध्यम है, बल्कि भारतीय दार्शनिक परंपरा के भीतर इसकी वैधता और तात्त्विक संगति को भी प्रमाणित करता है। अजातिवाद के अनुसार, उत्पत्ति और विनाश केवल अनुभवजन्य वास्तविकता का हिस्सा हैं, जबकि अंतिम वास्तविकता में कोई उत्पत्ति या समाप्ति नहीं होती। इस दृष्टिकोण से यह भारतीय दर्शन की समग्र तात्त्विक संरचना के अनुरूप है और इसे किसी विदेशी या अपरंपरागत विचारधारा के रूप में नहीं देखा जा सकता।

इस लेख के समापन से पहले, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि महायान बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदांत में अंतर मौजूद है। दोनों ही परंपराएँ “अजातिवाद” का प्रयोग करते हैं। लेकिन वे इसे अलग दार्शनिक और आध्यात्मिक आधार पर समझाते हैं (King, 1995)। सतही समानता के कारण कुछ विद्वान महायान बौद्ध दर्शन को ‘निरपेक्षतावादी’ मानने में भूल करते हैं। वास्तव में यह उनके मूल दृष्टिकोण को विकृत करता है। अद्वैत वेदांत में, विशेषतः गौड़पाद की गौड़पाद-कारिका के चतुर्थ प्रकरण (आलातशान्ति-प्रकरण) में, अजातिवाद एक सुस्पष्ट तात्त्विक सिद्धांत के रूप में उभरता है। इस ग्रंथ में बौद्ध दर्शन, विशेषकर स्वभाव-आलोचना, का गहरा प्रभाव दिखाई देता है, किंतु गौड़पाद इस आलोचना को अद्वैत की दिशा में मोड़ देते हैं। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि वास्तव में किसी भी वस्तु की उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं है; जगत केवल माया है, जो एकमात्र सत्य, अद्वैत ब्रह्म-आत्मा पर अध्यारोपित है। गौड़पाद सशर्त धर्मों में निहित स्वभाव की बौद्ध आलोचना को स्वीकार करते हैं, परंतु इसके साथ ही वे एक उच्चतर और सत्य स्वभाव की स्थापना करते हैं, जो ब्रह्म-आत्मा के रूप में शाश्वत, अपरिवर्तनीय और अजन्मा है। गौड़पाद के अनुसार यह स्वभाव “सदा से सिद्ध, स्वाभाविक और अप्रसूत” है। इस प्रकार अजातिवाद यहाँ एक दार्शनिक सत्य बन जाता है, जिसके अनुसार जगत की असत्यता और ब्रह्म की एकमेव वास्तविकता सिद्ध होती है।

इसके विपरीत, महायान बौद्ध परंपरा में अनुत्पाद या अनुत्पत्ति की संकल्पना प्रज्ञापारमिता सूत्रों और नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में विकसित होती है। यह दृष्टि अभिधर्म की यथार्थवादी प्रवृत्तियों की आलोचना से जन्म लेती है। अभिधर्म परंपरा ने धर्मों को अंतिम यथार्थ मानते हुए उनमें निश्चित स्वभाव की कल्पना की

थी, जिससे यह समस्या उत्पन्न हुई कि यदि किसी वस्तु का स्वभाव स्थायी है, तो वह क्षणिक और सशर्त प्रक्रिया का अंग कैसे हो सकती है। नागार्जुन इस प्रश्न को आत्मा-अनात्मा के विवाद से हटाकर स्वभाव-निःस्वभाव की बहस में रूपांतरित कर देते हैं। वे यह स्थापित करते हैं कि जो कुछ भी प्रतीत्यसमुत्पाद के अधीन उत्पन्न होता है, उसमें स्वतंत्र, अकारण और अपरिवर्तनीय स्वभाव हो ही नहीं सकता। माध्यमिक दर्शन में शून्यता किसी प्रकार का तत्त्व, अधिष्ठान या परम सत्ता नहीं है। यह सभी धर्मों में निहित स्वभाव-अभाव का नाम है। शून्यता कोई 'वस्तु' नहीं, बल्कि एक विधेयात्मक संकेत है, जो यह दर्शाता है कि किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। "रूप ही शून्य है और शून्य ही रूप है" का कथन किसी उच्चतर वास्तविकता की स्थापना नहीं करता, बल्कि स्वतंत्र सत्ता की धारणा का निषेध करता है। इस दृष्टि का उद्देश्य मुक्ति है, जो किसी भी मत, यहाँ तक कि शून्यता के मत से भी अनासक्ति के द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार अनुत्पाद एक उपचारात्मक, विघटनकारी बौद्धिक प्रक्रिया है, न कि कोई अंतिम तात्त्विक प्रतिज्ञा।

समस्या तब उत्पन्न होती है जब दोनों परंपराओं की इस सतही समानता—कि "कुछ भी उत्पन्न नहीं होता"—को एक ही अर्थ में समझ लिया जाता है। वेदांत में स्वभाव की आलोचना जगत के स्तर पर की जाती है, ताकि परम सत्ता में स्वभाव की पुष्टि की जा सके। यह एक नकारात्मक मार्ग है, जो अंततः एक सकारात्मक, निरपेक्ष ब्रह्म की स्थापना करता है। इसके विपरीत, माध्यमिक दर्शन स्वभाव की आलोचना को सार्वभौमिक सिद्धांत के रूप में लागू करता है और किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार के स्वभाव या परम तत्त्व को स्वीकार नहीं करता। यह 'अप्रतिष्ठित' नकार है, जो किसी भी अंतिम आश्रय को अस्वीकार कर देता है। ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो अभिधर्म की स्वभाववादी यथार्थमीमांसा से महायान की यह क्रांति जन्म लेती है, जिसमें प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता को अभिन्न सिद्ध किया जाता है। इसके पश्चात् गौड़पाद इस बौद्ध बौद्धिक उपकरण को ग्रहण करते हैं, किंतु उसका उपयोग शून्यता की ओर नहीं, बल्कि अद्वैत आत्मा की स्थापना के लिए करते हैं। विद्वत् परंपरा में उत्पन्न भ्रम इसी बिंदु से पैदा होता है, जब गौड़पाद के निर्णायक रूप से वेदांतिक अजातिवाद को महायान ग्रंथों पर आरोपित कर दिया जाता है। अंततः महायान बौद्ध दर्शन का अनुत्पाद किसी परम सत्य की खोज का अंतिम पड़ाव नहीं है, बल्कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत का सुसंगत और निर्भीक विस्तार है, जो किसी भी प्रकार की निरपेक्षता के लिए स्थान नहीं छोड़ता। इसकी शक्ति किसी तात्त्विक आश्वासन में नहीं, बल्कि अस्तित्वगत सुरक्षा की धारणा को निरंतर अस्वीकार करने में निहित है।

गौड़पादीय-कारिका के चौथे प्रकरण पर विचार करना उस बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश करना है जहाँ वेदान्त और महायान बौद्ध दर्शन के बीच की सीमाएँ सहज ही धुँधली हो जाती हैं। यहाँ अजातिवाद केवल एक दार्शनिक निष्कर्ष नहीं रह जाता, बल्कि प्रारम्भिक अद्वैत की सत्ता-मीमांसा का केंद्रीय आधार बन जाता है। इसी प्रक्रिया में यह स्पष्ट होता है कि अद्वैत की यह धारणा मध्यमक परम्परा के साथ कितनी गहरी और कभी-कभी असहज करने वाली निकटता रखती है। यह न तो बौद्ध दर्शन में विलयन की कथा है और न ही पूर्णतः स्वतंत्र वैदिक उद्गम का दावा, बल्कि एक साझा वैचारिक भूमि की पहचान है, जहाँ बौद्ध पारिभाषिक शब्दावली और तर्क-पद्धतियों का उपयोग वेदान्तिक परम तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। इस प्रकार यह साधारण उधार का मामला नहीं, बल्कि सृजनात्मक पुनरधिग्रहण है, जहाँ उत्पत्ति की बौद्ध आलोचना को उलटकर अधिष्ठानात्मक तत्त्वमीमांसा की सेवा में लगाया गया है। इस विमर्श के केंद्र में संवृति और परमार्थ—दो सत्यों का सिद्धान्त स्थित है। महायान परम्परा में यह भेद मूलतः भाषिक और व्यावहारिक है, न कि सत्ता-मीमांसीय। इसका उद्देश्य न तो जगत् का सर्वथा निषेध करना है और न ही वस्तुओं का ठोस स्थायीकरण, बल्कि इन दोनों अतियों के बीच एक मध्य मार्ग खोलना है। संवृति-सत्य लौकिक व्यवहार और भाषा का क्षेत्र है, जिसकी वैधता अस्थायी और साधनात्मक है, फिर भी वही परमार्थ की ओर संकेत करने का एकमात्र माध्यम है। संवृति एक ओर यथार्थ को ढँकती है, तो दूसरी ओर उसी आवरण के माध्यम से यथार्थ का संकेत भी देती है। यहाँ भाषा स्वयं परमार्थ को ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु कुशल प्रयोग द्वारा उसकी अभिव्यक्ति या उद्भावना सम्भव हो जाती है।

गौड़पाद का चौथा प्रकरण इसी सूक्ष्म समझ के भीतर कार्य करता है। उत्पत्ति की धारणा को वह प्रत्यक्ष अनुभूति और सामान्य व्यवहार पर आधारित दिखाता है। वस्तु-जगत् को मायावी हाथी के समान बताया गया है, जो केवल सामूहिक अनुभूति की सहमति में ही वास्तविक प्रतीत होता है। यह संवृति को मात्र मिथ्या कहकर खारिज करना नहीं है, बल्कि उसकी आश्रित और व्यावहारिक वास्तविकता को स्वीकार करना है। इसी संवृति के भीतर एक और भेद किया जाता है—कल्पित संवृति और सापेक्ष अथवा आश्रित संवृति का। यह भेद प्रतीति के स्तरों को स्पष्ट करता है और यह दर्शाता है कि सभी अनुभव समान रूप से कल्पित नहीं हैं। फिर भी निर्णायक बिन्दु यह है कि आश्रित रूप से संगत प्रतीत होने वाला जगत् भी परमार्थतः सत्य नहीं है। समस्त संवृति-सत्य—चाहे वह कल्पित हो या अपेक्षाकृत व्यवस्थित—मन की वृत्तियों से उत्पन्न, अवस्थाबद्ध और सीमित है, जैसा कि जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है। यहीं से अजातिवाद का मूल

सिद्धान्त उभरता है। परिवर्तन का प्रश्न इस विमर्श का केंद्रीय तार्किक आधार है। यदि किसी वस्तु का स्वभावतः वास्तविक स्वरूप है, तो उसमें परिवर्तन कैसे सम्भव है? परिवर्तन का अर्थ होगा स्वयं से भिन्न हो जाना, जो तर्कतः असंगत है। और यदि उसका कोई स्वभाव नहीं है, तो परिवर्तन किसका कहा जाएगा? इसी दुविधा से उत्पत्ति के निषेध की धारणा जन्म लेती है। मध्यमक परम्परा में इस विरोधाभास का उपयोग स्वभाव की धारणा को विघटित करने के लिए किया जाता है और निष्कर्ष शून्यता के रूप में सामने आता है। परन्तु गौड़पाद इसी तर्क को एक भिन्न दिशा में मोड़ देते हैं। उनके लिए परिवर्तन की तार्किक असंगति यह सिद्ध करती है कि वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसलिए उत्पत्ति परमार्थतः असम्भव है। जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह केवल संवृति-स्तर पर है—अविद्या का परिणाम, स्वप्न या माया के समान।

यहीं अद्वैत और मध्यमक के मार्ग अलग हो जाते हैं। जहाँ मध्यमक में माया का दृष्टान्त सभी धर्मों की शून्य और आश्रित प्रकृति को दर्शाने के लिए प्रयुक्त होता है, वहीं गौड़पाद इसे एक वास्तविक, अद्वैत अधिष्ठान की ओर संकेत करने के लिए उपयोग करते हैं, जो एकमात्र सत्य है। उनके अनुसार न उत्पत्ति है, न निरोध; यही परम सत्य है। अजातिवाद यहाँ केवल निषेध नहीं, बल्कि प्रत्ययी निषेध है—जन्म का निषेध अजन्म तत्त्व की स्वीकृति को निहित करता है। यह दृष्टि किसी सरल द्रव्यवाद में नहीं गिरती, क्योंकि अनुभव-जगत् पर सभी प्रकार के आरोपों और प्रपञ्चों का कठोर विघटन किया जाता है। संसार का मूल कारण जीव की कल्पना और विषय-विषयक द्वैत है। कारण-कार्य में आसक्ति ही बन्धन है, और ज्ञान के उदय से यह आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर भी अन्तिम दार्शनिक गन्तव्य भिन्न रहता है। प्रपञ्च-निवृत्ति के पश्चात् बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का बोध होता है, जबकि गौड़पाद के यहाँ वही निवृत्ति अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार कराती है, जो परिवर्तन, भेद और काल से परे है। इसी कारण पाठ नित्यवाद और उच्छेदवाद—दोनों अतियों से सावधानीपूर्वक बचता है। जगत् का उच्छेद नहीं हुआ, क्योंकि वह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; और नित्य को किसी लौकिक पदार्थ के रूप में नहीं, बल्कि प्रतीति के कालातीत अधिष्ठान के रूप में समझा गया है। इसलिए “नित्य” और “अनित्य” जैसे पद यहाँ अप्रासंगिक हो जाते हैं। इस प्रकार चौथा प्रकरण बौद्ध द्वन्द्वात्मक पद्धति का उपयोग किसी रक्षात्मक उद्देश्य से नहीं, बल्कि अद्वैत को अधिक तीक्ष्ण और निर्विकार रूप में स्थापित करने के लिए करता है। प्रत्येक प्रतिपक्ष-खंडन अंततः अजातिवाद का ही समर्थन बन जाता है। यह एक साहसिक दार्शनिक उपक्रम है, जिसमें उत्पत्ति और कारणत्व की समस्त आलोचना को एक ऐसे निष्कर्ष की ओर मोड़ा जाता है जो अद्वैत वेदान्त का मूल विश्वास है—कि

वास्तविकता एक है, अपरिवर्तनीय है और आत्मा से अभिन्न है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ न तो बौद्ध दर्शन का प्रतिरूप है और न ही उससे अनभिन्न कोई परम्परागत वेदान्त, बल्कि दोनों के सघन संवाद से उपजा एक मौलिक दार्शनिक विन्यास है। इसकी आधारभूमि निस्संदेह वेदान्तिक है, पर इसकी वैचारिक संरचना पर महायान बौद्ध दर्शन की स्पष्ट छाप है। यही वह क्षण है जहाँ भारतीय दर्शन की परम्पराएँ पारदर्शी हो जाती हैं और उसी पारदर्शिता में अजातिवाद की एक सशक्त, जीवंत और मौलिक अभिव्यक्ति सामने आती है। संक्षेप में कहें तो, यदि बौद्ध दर्शन में प्रतित्यसमुत्पाद की अवधारणा उनके सनातनता के चिंतन का आधार प्रदान करती है, तो अद्वैत वेदांत में निर्गुण ब्रह्मवाद या एकात्मवाद उनकी सनातनता की समझ को अर्थ प्रदान करता है। किंतु अजातिवाद पहले से ही उनके तात्त्विक ढांचे में अंतर्निहित है। यही कारण है कि इस शोधपत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि सनातनता की केंद्रीय दार्शनिक व्याख्या अजातिवाद है और कुछ नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार या अनुभवजन्य वास्तविकता महत्वहीन है। इसके बिना अजातिवाद की गहन समझ संभव नहीं है। हमारी दैनिक अनुभवजन्य दुनिया का अस्तित्व आवश्यक है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि इस अनुभवजन्य जगत् के आधार पर ही दोनों, अद्वैतवादी और महायान बौद्ध, कुछ हद तक सहमत हो सकते हैं।

परंतु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अनुभवजन्य जगत्, जिसकी प्रकृति क्षणिक और परिवर्तनशील है, वही अंतिम सत्य है। दूसरे शब्दों में, संवृत्ति या व्यावहारिक जगत् से भिन्न भी एक ऐसा सत्य विद्यमान है, जिसे हम अविद्या के कारण पहचान नहीं पाते। इसी अविद्या के कारण हम इस जगत् को, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी, अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं और राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि विकारों में लिप्त हो जाते हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन इस गहरे तात्त्विक सत्य को अत्यंत सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ रेखांकित करता है। दृष्टांतस्वरूप, “अमृतस्य पुत्राः” वाक्यांश श्वेताश्वतर उपनिषद् (२.५) में प्रसिद्ध उद्धोषणा “शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः” के रूप में आता है—अर्थात् “हे अमरत्व के पुत्रो, सुनो।” यह कथन केवल एक सांत्वनात्मक उपमा नहीं है, बल्कि मानव अस्तित्व के विषय में एक अत्यंत मौलिक और तात्त्विक दावा प्रस्तुत करता है (Pandey, 2002)। अमृतस्य पुत्र कहे जाने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की वास्तविक सत्ता केवल जैविक जीवन, ऐतिहासिक संयोगों अथवा सामाजिक पहचानों तक सीमित नहीं है, बल्कि उसका मूल एक ऐसे अमर, अविनाशी तत्त्व में निहित है जो जन्म-मृत्यु से परे है। किन्तु यह उपनिषदिक उद्धोषणा हमारे समकालीन नव-उदारवादी परिवेश में एक गहरे तनाव का सामना करती है, जहाँ प्रकृति, ज्ञान, अध्यात्म, संबंध और यहाँ तक कि

मानव शरीर तक का वस्तुकरण कर दिया गया है। जीवन को एक ऐसी सीमित पूँजी के रूप में देखा जाने लगा है जिसे प्रबंधित किया जाए, सुरक्षित किया जाए, अधिकाधिक लंबा किया जाए और उपयोग में लाया जाए। ऐसे संदर्भ में “हम अमृतस्य पुत्र हैं” जैसी धारणा या तो अबोधगम्य प्रतीत होती है या फिर अव्यावहारिक मानी जाती है। युग की प्रचलित दार्शनिक दृष्टि अस्तित्व को केवल जीवित रहने, संचय करने और नियंत्रण में रखने तक सीमित कर देती है, जिससे उपनिषदिक दृष्टि की तात्त्विक गहराई लुप्त हो जाती है। भारतीय आध्यात्मिक परंपराएँ इस संकट का अत्यंत सूक्ष्म निदान अभिनिवेश की संकल्पना के माध्यम से करती हैं। शास्त्रीय सांख्य-योग दर्शन में अभिनिवेश जीवन के प्रति गहरे आसक्ति-भाव और मृत्यु-भय को सूचित करता है, जो ज्ञानी पुरुषों में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। यह आसक्ति केवल मनोवैज्ञानिक नहीं, बल्कि अस्तित्वगत है। अभिनिवेश से ग्रस्त मनुष्य अपने जीवन-संरक्षण के लिए किसी भी कृत्य को उचित ठहराने लगता है—चाहे वह प्रकृति का शोषण हो, ज्ञान का साधनीकरण हो, या वैद्य जैसे पवित्र सेवा-व्यवसाय का वस्तुकरण ही क्यों न हो। जो बाहर से प्रगति या दक्षता प्रतीत होता है, उसके भीतर प्रायः उस भय की छाया छिपी रहती है जो अपनी वास्तविक सत्ता को भूल जाने से उत्पन्न होता है।

इस दृष्टि से वस्तुकरण का संकट केवल आर्थिक या नैतिक नहीं, बल्कि मूलतः तात्त्विक है। जब तक जीवन को एक ऐसी सत्ता के रूप में समझा जाएगा जिसका आरंभ हुआ है और जिसका अंत अवश्यंभावी है, तब तक भय मानवीय कर्मों का मौन नियंता बना रहेगा। यहीं पर गौड़पाद की कारिकाओं में प्रतिपादित अजातिवाद का निर्णायक महत्त्व स्पष्ट होता है। अजातिवाद उत्पत्ति का ही निषेध करता है—परमार्थतः न कोई जन्म लेता है और न कोई वास्तव में मरता है। आत्मा कोई उत्पन्न हुई सत्ता नहीं है जो समय में टिके रहने के लिए संघर्ष करे, बल्कि वह सदा-सिद्ध सत्य है, जो अज्ञानवश बंधित प्रतीत होती है। अजातिवाद के आलोक में देखने पर उपनिषदिक संबोधन अमृतस्य पुत्राः अपने पूर्ण अर्थ में प्रकट होता है। हम इसलिए अमरत्व के पुत्र नहीं हैं कि हम काल में अनंतकाल तक जीवित रहेंगे, बल्कि इसलिए हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप कभी जन्मा ही नहीं। यह बोध सीधे-सीधे अभिनिवेश की जड़ पर प्रहार करता है, क्योंकि जन्म का अध्यास टूटते ही मृत्यु-भय का आधार स्वतः नष्ट हो जाता है। अपने को सनातन के रूप में जानना—न कि किसी कालिक रूप से टिके रहने वाले द्रव्य के रूप में, बल्कि अजन्मा और सदा-मुक्त तत्त्व के रूप में—वस्तुकरण की प्रवृत्ति को उसकी मूल जड़ से कमजोर कर देता है। इस प्रकार अजातिवाद कोई जीवन से कटा हुआ अमूर्त तात्त्विक सिद्धांत नहीं है। यह भय, अभाव और स्वामित्व से संचालित सभ्यता के लिए एक गहन दार्शनिक

प्रत्युत्तर प्रदान करता है। अमृतस्य पुत्राः होने की अंतर्दृष्टि को पुनर्स्थापित करके यह मानवीय अस्तित्व को उन्मत्त आत्म-संरक्षण से मुक्त समझ की ओर और शोषण से परे, अजन्मा आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित स्वातंत्र्य की ओर उन्मुख करता है।

संदर्भ

1. Bhattacharya, K. (2002). *Dialectical Method of Nagarjuna Vighrahavyavartani (Text, Eng. Tr.)*. Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Limited.
2. Geldard, R. G. (Trans.). (2007). *Parmenides and the way of truth*. Monkfish Book Publishing.
3. Gupta, Sarita (1984). *Problem of relations in Indian philosophy*. Eastern Book Linkers.
4. Heidegger, M. (2000). *Being and Time*. State University of New York Press.
5. King, R. (1995). *Early Advaita Vedānta and Buddhism: The Mahāyāna Context of the Gauḍapādīya-kārikā*. State University of New York Press.
6. Mahadevan, T.M.P. (1960). *Gauḍapāda: A Study in Early Advaita*. University of Madras.
7. Maitra, S. K. (1993). *An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo*. Sri Aurobindo Ashram Publication Department.
8. Pandey, R. R. (2001). *Amṛtasya Putraḥ: An Advaitic Encounter with Globalism and Postmodernism*. Kala Prakashan.
9. Popper, K. R. (2002). *An Unended Quest*. Routledge.
10. Potter, K. H. (1991). *Presuppositions of India's Philosophies*. Motilal Banarsidass Publishers.
11. Roodurmum, P. S. (2002). *Bhāmatī and Vivaraṇa Schools of Advaita Vedānta: A Critical Approach*. Motilal Banarsidass Publishers.

सहायक प्रोफ़ेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज-211002

Jattrajan12@gmail.com

<https://orcid.org/0000-0002-0655-0850>

<https://allduniv.academia.edu/RajanPhD>

कालिदास की कृतियों में कर्मवाद

छाया

सारांश

हमारे जीवन में जो भी घटित होता है, वह हमारे किसी न किसी कर्म का ही फल होता है। कर्म के कारण ही कोई मनुष्य योनि में तो कोई पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि की योनि में जन्म लेता है। कर्म के परिणामस्वरूप कोई ऐश्वर्य संपन्न होकर सुख भोगता है और कर्म के कारण ही कोई निर्धन एवं विपन्न होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। कर्म के कारण ही कोई अल्पायु होता है, तो कोई दीर्घायु परंतु कर्म का रहस्य मुनियों के लिए भी अगम्य है, साधारण जन की तो बात ही क्या! तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है—

‘कर्म प्रधान विश्व करि राखा।

जो जसुकरइ सो तसु फल चाखा॥’

अर्थात् यह संसार कर्म प्रधान है, यहाँ जो जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार कर्मों के 'करणीय' और 'अकरणीय' होने के संबंध में भी प्रायः संदेह उत्पन्न होता है क्योंकि एक परिस्थिति में जो कर्म करणीय है, वही कर्म दूसरी स्थिति में अकरणीय भी हो सकता है। यही कारण है कि श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म की गहनता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—

‘किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।’

कर्म की इस गहनता को ध्यान में रखते हुए भारतीय दर्शनों में कर्म सिद्धांत पर गहन विमर्श किया गया है। संत कवि तुलसीदास जी कहते हैं—

‘करम गतिटारे नाहीं टरे’

‘करमन की गति न्यारी’।

कविवर भर्तृहरि ने भी कर्म के महत्त्व को बताते हुए कहा है:

“ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षित्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥”

अर्थात्, कर्म के फलस्वरूप ही ब्रह्माजी कुम्हार की भाँति ब्रह्मांड रूपी बर्तन बनाने में नियमित रूप से लगे रहते हैं; भगवान विष्णु मत्स्य आदि दशावतारों को धारण कर महान संकटों और कष्टों को सहन करते हैं; भगवान शंकर हाथ में खप्पर लेकर भिक्षाटन करते हैं तथा सूर्य निरंतर आकाश में भ्रमण करते हैं। ऐसे (सर्वशक्तिमान) कर्म को नमस्कार है। इस प्रकार सभी ने कर्म के सिद्धांत एवं महत्त्व को स्वीकार किया है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय जोड़कर बना है। कर्म का शाब्दिक अर्थ है 'काम' अर्थात् जो किया जाए वह कर्म कहलाता है। शुभ कर्म का परिणाम शुभ और अशुभ कर्म का परिणाम अशुभ होता है, यह सर्वविदित सिद्धांत है। कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से संस्कृत के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। भले ही कालिदास ने काव्यों एवं नाटकों की रचना की है, लेकिन उनके साथ-साथ दर्शनों में जो सिद्धांत हैं, उनका भी प्रतिफलन महाकवि कालिदास के काव्यों में दिखलाई पड़ता है। जहाँ भारतीय दर्शनों में 'कर्मवाद' एक महत्वपूर्ण विषय है, वह विषय भी कालिदास के काव्यों एवं नाटकों में प्रतिफलित होता हुआ परिलक्षित होता है।

मुख्य शब्द : कर्मवाद, कालिदास, रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मेघदूतम्, विक्रमोर्वशीयम्, शाप, कर्तव्य-प्रमाद, श्रीमद्भगवद्गीता, शुभ-अशुभ कर्म, प्रतिफलन।

कालिदास के पास वह विलक्षण प्रतिभा और विवेक था जो किसी व्यक्ति को 'महाकवि' की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है। वे न केवल एक प्रकांड विद्वान थे, बल्कि उनकी रचनाएँ, उनकी काव्य प्रतिभा और पाण्डित्य का अद्भुत संगम प्रस्तुत करती हैं। उनकी कृतियाँ जीवन की श्रेष्ठता और मानवीय मूल्यों के प्रति अटूट विश्वास से ओतप्रोत हैं। वे जहाँ एक ओर राजमहलों के वैभवशाली और विलासी जीवन का सूक्ष्म चित्रण करने में कुशल थे, वहीं दूसरी ओर ऋषि-आश्रमों के सरल, शांत और सात्विक जीवन को भी उतनी ही आत्मीयता से अभिव्यक्त करते थे। वे दाम्पत्य जीवन के उल्लास और सुखों के साथ-साथ विरह की मर्मभेदी वेदना का भी अत्यंत सजीव वर्णन करने में सक्षम थे। उनकी लेखनी में जहाँ एक ओर गंभीर और विचारपूर्ण प्रसंग मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर विनोदपूर्ण और हास्य से भरपूर दृश्य

भी जीवंत हो उठते हैं। उनकी कृतियों में कलात्मक चेतना, अद्वितीय शब्द-सामर्थ्य और सजीव चित्रण की अनुपम क्षमता का एक उत्कृष्ट समन्वय देखने को मिलता है।

कविकुलगुरु महाकवि कालिदास की गणना भारत के ही नहीं अपितु विश्व के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। वे संस्कृत-साहित्य के मूर्धन्य महाकवि और निपुण नाटककार हैं। इन्होंने सदैव जन-कल्याण की भावना से ही कार्य किया, कभी अपनी यश, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान नहीं किया। महाकवि कालिदास में आत्मश्लाघा का भाव लेशमात्र भी नहीं था, इस बात का परिचय और उनकी नम्रता की पराकाष्ठा का प्रमाण रघुवंश के निम्न श्लोकों से मिलता है-

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाऽल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्यं फले लोभादुद्गाहुरिव वामनः ॥¹

एक जनश्रुति के अनुसार कालिदास पहले अत्यन्त मूर्ख थे। राजा शारदानन्द की विद्योत्तमा नामक एक विदुषी एवं सुन्दर पुत्री थी, उसे अपनी विद्या पर अधिक गर्व था। इस कारण उसने शर्त रखी थी कि जो कोई उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा वह उसी से विवाह करेगी। पण्डितों के षडयन्त्र के परिणामस्वरूप विद्योत्तमा का विवाह महामूर्ख कालिदास जो जिस पेड़ की डाल पर बैठे थे उसी को काट रहे थे, के साथ हो गया। विवाहोपरान्त कालिदास की सच्चाई जानकर विद्योत्तमा ने उसे घर से बाहर निकाल दिया। इस घटना से कालिदास का हृदय अत्यन्त आहत हुआ। उन्होंने काली देवी की उपासना की।

भगवती काली ने प्रसन्न होकर उन्हें कवित्वपूर्ण विद्या की सिद्धि का वर प्रदान किया और कालिदास विद्यामण्डित होकर पुनः विदुषी पत्नी के पास जाकर बोले- "अनावृतकपाटं द्वारं देहि" (द्वार खोलो)। आश्चर्यचकित विद्योत्तमा ने पूछा-"अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः?" (क्या वाणी में कुछ विशेषता है?) कालिदास ने अपनी पत्नी के प्रश्नात्मक वाक्य के तीन पदों को लेकर तीन काव्यों का निर्माण किया, जो कि इस प्रकार हैं-

1. 'अस्ति' पद से कुमारसम्भवम् (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा)
2. 'कश्चित्' पद से मेघदूतम् (कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा)
3. 'वाक्' पद से रघुवंशम् (वागर्थाविव सम्पृत्तौ)

‘कुमारसंभवम्’ में कालिदास द्वारा प्रकृति का चित्रण प्रेम और ब्रह्मांडीय संतुलन के विषयों के साथ जटिल रूप से जुड़ा हुआ है। शिव और पार्वती के बीच प्रेम के प्रस्फुटन के प्रतीक के रूप में 'वसंत' का उपयोग संपूर्ण कथानक के लिए एक आधार तैयार करता है। यहाँ प्रकृति केवल एक परिवेश मात्र नहीं है, बल्कि मानवीय भावनाओं और दैवीय कार्यों का एक दर्पण है। इस साहित्यिक दृष्टिकोण ने मानव जीवन और प्राकृतिक दुनिया के बीच एक काव्यात्मक सामंजस्य स्थापित करके भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है, जो भविष्य की साहित्यिक कृतियों के लिए एक आदर्श बन गया है।

कालिदास का 'मेघदूतम्' अपनी गहन भावनात्मक गहराई के लिए प्रसिद्ध है। विरह, तड़प और प्रेम के केंद्रीय विषय को यक्ष की अपनी प्रियतमा के प्रति व्याकुलता के माध्यम से चित्रित किया गया है। यह कविता मानवीय भावनाओं की सूक्ष्म बारीकियों को दर्शाती है, जो इसे हर पीढ़ी के लिए प्रासंगिक बनाती है। जीवंत कल्पना और सटीक शब्दों के चयन के माध्यम से सहानुभूति जगाने की कालिदास की क्षमता ने भारतीय साहित्य पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ा है। 'मेघदूतम्' अपनी गीतात्मक गुणवत्ता के कारण एक उत्कृष्ट कृति के रूप में स्थापित है और मानवीय संवेदनाओं के इसके अन्वेषण ने शास्त्रीय और आधुनिक दोनों भारतीय साहित्यों की आगामी कृतियों को प्रभावित किया है। कालिदास की साहित्यिक तकनीकें 'रघुवंशम्' के कथानक को महत्वपूर्ण रूप से समृद्ध करती हैं, जो इसे संस्कृत साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति बनाती हैं। जीवंत कल्पना और रूपकों का उनका प्रयोग पात्रों और उनके अनुभवों को जीवंत कर देता है, जिससे पाठक कहानी के साथ भावनात्मक रूप से जुड़ पाते हैं। छंदों की गीतात्मक गुणवत्ता इसके सौंदर्य बोध में योगदान देती है, जबकि लयबद्ध संरचना कविता की संगीतात्मकता को बढ़ाती है। ये तत्व, गहन दार्शनिक अंतर्दृष्टि के साथ मिलकर, एक ऐसी समृद्ध संरचना तैयार करते हैं जो न केवल मनोरंजन करती है बल्कि नैतिक और चारित्रिक शिक्षा भी प्रदान करती है। कालिदास की कृतियों का अनुशीलन हमें एक अलौकिक रसानुभूति और सौंदर्यपरक आनंद प्रदान करता है। उनके वर्णन पाठक को मंत्रमुग्ध कर देने की शक्ति रखते हैं। उनके साहित्य को पढ़ना एक अत्यंत सभ्य, सुसंस्कृत और उच्च कोटि के व्यक्तित्व के सानिध्य में रहने के समान है। यह एक प्रफुल्लित पुष्प की भाँति है, जिसकी सुगंध दसों दिशाओं में व्याप्त हो जाती है। जिस प्रकार एक परिपक्व मस्तिष्क और प्रखर मेधा अपने परिवेश को आलोकित करती है, ठीक वैसा ही प्रभाव कालिदास का भी है।

उनकी रचनाओं के माध्यम से हम एक ऐसे संसार में प्रवेश करते हैं जहाँ पात्र मन और कर्म से पवित्र तथा गरिमापूर्ण हैं। यहाँ हमें बोध होता है कि मानवीय स्वभाव किस प्रकार नैतिकता के उच्चतम शिखर को स्पर्श कर सकता है। पार्वती, दिलीप, रघु, अज, शकुंतला, दुष्यंत और महर्षि कण्व जैसे कालजयी पात्रों के संपर्क में आना मन को अगाध संतोष और प्रेरणा देता है। इसी विलक्षण अनुभव के कारण ही भारत सहित संपूर्ण विश्व के सुधी पाठक कालिदास के साहित्य का रसास्वादन करते हैं।

महाकवि कालिदास की सात रचनाएं प्रसिद्ध हैं- 1. ऋतुसंहार, 2. मेघदूतम्, 3. कुमारसम्भवम्, 4. रघुवंशम्, 5. मालविकाग्निमित्रम्, 6. विक्रमोर्वशीयम्, 7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

महाकवि कालिदास की लगभग सभी कृतियों में कर्मवाद का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है।

रघुवंशम् महाकाव्य में कर्मवाद

रघुवंशम् महाकाव्य में राजा दिलीप जब इन्द्र से मिलकर लौट रहे थे तो उन्होंने मार्ग में कल्पवृक्ष की छांव में बैठी कामधेनु की पूजा और प्रदक्षिणा नहीं की। अतः राजा दिलीप के इस पूज्यपूजाव्यतिक्रमरूपी कर्म से कामधेनु ने रुष्ट होकर उन्हें शाप दे दिया कि- “तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है इसका दण्ड यही है कि जब तक तुम मेरी सन्तान की सेवा नहीं करोगे, तब तक तुम्हें पुत्र प्राप्त नहीं होगा।”

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा॥²

ऋषि वशिष्ठ कहते हैं कि - हे राजन्! उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगंगा में खेलते हुए चिगघाड़ रहे थे, इसलिये उस शाप को न तो आप ही सुन पाये और न आपका सारथि ही सुन पाया।

स शापो न त्वया राजन् च सारथिना श्रुतः।
नदत्याकाशगंगायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे॥³

हे राजन्! इसलिये तुम्हारे पुत्र न होने का कारण यही है कि तुमने कामधेनु का तिरस्कार किया है, जो मनुष्य अपने पूज्यों की पूजा नहीं करता उसके शुभ कार्यों में विघ्न पड़ता है अर्थात् पूज्यों की पूजा का उल्लंघन कल्याण को रोक देता है।

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः॥⁴

तदुपरान्त राजा दिलीप पत्नी सुदक्षिणा-सहित अहर्निश नन्दिनी गौ की सेवा में समर्पित हो गये। एक दिन नन्दिनी ने राजा दिलीप की परीक्षा ली। माया के रहस्य द्वारा एक सिंह नन्दिनी पर आक्रमण करता है और राजा दिलीप अपना देह समर्पित कर भी गौ की रक्षा करना चाहते हैं, क्योंकि नाश होने से रक्षा करना क्षत्रिय का परम कर्तव्य है तथा क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही है कि जो दूसरों को नष्ट होने से बचावे। राजा दिलीप कहते हैं कि- “मैं क्षत्रिय हूँ और मेरा परम कर्तव्य है कि अपना प्राण देकर भी प्रजा की तथा उनके हितों की रक्षा करूँ, इसके विपरीत कार्य करने से मुझे अपयश लगेगा और निन्दनीय जीवन से प्राण-त्याग अधिक अच्छा है।” इस पर नन्दिनी प्रसन्न होती हैं और कहती हैं –

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र! वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिम्, अवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥⁵

इस प्रकार गुरु के प्रति सच्ची निष्ठा और दयाभाव को देखकर नन्दिनी ने राजा से अभीप्सित वर माँगने को कहा और राजा ने अनन्त कीर्तिमान्, वंशवृद्धि करने वाले तनय की प्राप्ति की प्रार्थना की। राजा दिलीप और सुदक्षिणा के निष्ठापूर्वक की गयी गोसेवा रूप सत्कर्म के फलस्वरूप उन्हें रघु जैसे तनय की प्राप्ति हुई जिसके नाम से वंश का नाम रघुवंश पड़ा।

रघुवंशम् महाकाव्य के नवम सर्ग में मृगया प्रसंग में आखेट करते हुए राजा दशरथ का बाण एक मुनि श्रवण कुमार का प्राण ले लेता है, तब श्रवणकुमार के अन्धे माता-पिता राजा दशरथ को शाप देते हैं कि हे राजन् जाओ तुम्हें भी हमारे समान वृद्धावस्था में पुत्र-शोक से प्राण छोड़ने पड़ेंगे। जैसे पैर से दबने पर सर्प विष उगलकर शान्त हो जाता है वैसे ही वे बूढ़े मुनि भी शाप देकर शान्त हो गये।

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिबेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराधः॥⁶

इस प्रकार राजा दशरथ के द्वारा अविवेकपूर्वक किये गये मुनिकुमार के वध रूप असत्कर्म के परिणामस्वरूप उन्हें शाप मिला और पुत्र राम के वियोग में अपना प्राण त्यागना पड़ा।

मेघदूतम् में कर्मवाद

दो खण्डों में विभक्त 'मेघदूतम्' में यक्ष-यक्षिणी एवं कुबेर की कथा वर्णित है। यहाँ भी कर्मवाद लक्षित है- अलकापुरी में कुबेर द्वारा एक यक्ष को प्रतिदिन मानसरोवर से स्वर्णकमल लाने के कार्य में लगाया गया था। पर वह यक्ष अपने स्वामी की आज्ञा की अवहेलना करता है, जिससे कुबेर ने रुष्ट होकर यक्ष को शाप दे दिया कि जिस कान्ता के मोह में पड़कर तुम अपने कर्तव्य में प्रमाद कर रहे हो, उससे तुम्हें एक वर्ष तक दूर रहना होगा।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः॥
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥⁷

अर्थात् अपने कार्य से असावधान, प्रिया के विरह से दुःसह, एक वर्ष तक भोगे जाने वाले, स्वामी के शाप से नष्टमहिमा वाला, कोई यक्ष, जनक की पुत्री के स्नान करने से पवित्र जल वाले, घने छाया वाले वृक्षों से युक्त, रामगिरि के आश्रमों में निवास करता था। इस प्रकार यक्ष के द्वारा अपने कर्तव्यकर्म में प्रमाद करने के कारण उसे स्वामी कुबेर से शाप मिला कि वह एक वर्ष तक अपनी पत्नी से वियुक्त होकर रामगिरि के आश्रमों में निवास करे। यह पत्नीवियोग यक्ष की कर्मच्युति का ही फल है।

विक्रमोर्वशीयम् में कर्मवाद

“विक्रमोर्वशीयम्” में कालिदास ने प्रेम और कर्तव्य के विषयों को बड़ी सूक्ष्मता से पिरोया है, जो प्रेम की प्राप्ति में उत्पन्न होने वाले संघर्षों और चुनौतियों का जीवंत चित्रण करते हैं। उर्वशी के प्रति पुरुरवा का आदर्श प्रेम उस समर्पण का प्रतीक है जो सांसारिक बाधाओं से परे है, किंतु साथ ही वे एक राजा के रूप में अपनी उत्तरदायित्वों के निर्वहन हेतु भी जूझते नजर आते हैं। यह द्वैत व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सामाजिक दायित्वों के मध्य व्याप्त तनाव को दर्शाता है, जो कालजयी साहित्य का एक शाश्वत विषय है। इन संघर्षों का समाधान अंततः प्रेम और कर्तव्य के बीच संतुलन बनाए रखने के महत्व को रेखांकित करता है, जहाँ प्रेम को एक पवित्र बंधन और त्याग के स्रोत दोनों रूपों में चित्रित किया गया है।

'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक में भी कर्मवाद दृष्टिगत होता है। त्रोटक के तृतीयाङ्क में दो मित्र परस्पर वार्तालाप करते हैं- पहला मित्र- पल्लव गुरुदेव भरतमुनि तुम्हें अपने साथ स्वर्ग ले गये थे और मुझे अग्निशाला की रक्षा का कार्य

सौंप गये थे, इसलिये पूछता हूँ, क्या गुरुदेव भरतमुनि के लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक ने देवों का मनोरंजन किया?

द्वितीय ने कहा- मैं यह नहीं कह सकता कि देवों का मनोरंजन हुआ या नहीं परन्तु सरस्वती द्वारा ग्रथित लक्ष्मीस्वयंवर रूपक ने उन्हें तन्मय बना दिया था। लेकिन उसमें उर्वशी के वचन में असावधानीवश कुछ गलती हो गयी।

प्रथम:- कैसे? द्वितीय:- उर्वशी लक्ष्मी बनी थी और मेनका वारुणी, वारुणी ने लक्ष्मी से पूछा- सखी! ये त्रैलोक्य के सुपुरुषगण, भगवान् तथा लोकपाल उपस्थित हैं, इनमें तुम किसे चाहती हो? उर्वशी को पुरुषोत्तम का नाम लेना चाहिये था किन्तु उसके मुँह से पुरुरवा का नाम निकल गया, जिससे गुरुदेव भरतमुनि ने क्रुद्ध होकर उर्वशी को शाप दिया कि- तुमने हमारे उपदेश का अनादर किया है, इसलिये तुम्हारा स्थान स्वर्ग में नहीं है। इन्द्र ने अभिनय के अन्त में लज्जावनतमुखी उर्वशी से कहा कि तुम जिसे चाहती हो वह राजा हमारा युद्ध-सहायक है, हमें उसका प्रिय करना है, तुम यथेच्छ पुरुरवा के पास रह सकती हो जब तक वह तुमसे उत्पन्न सन्तति को नहीं देख लें।

“लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा-

सखि! समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः। कतमस्मिंस्ते भावाभिनवेश इति। ततस्तया पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरुरवसीति निर्गता वाणी। येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीत्युपाध्यायस्य शापः।।”⁸

इस प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में भी उर्वशी को अज्ञानतावश की गई कर्मच्युति का फल भोगना पड़ा। अप्सरा उर्वशी द्वारा अभिनय के दौरान अनजाने में की गई वाणी की त्रुटि (असावधानी) के कारण उसे स्वर्ग से निष्कासित होना पड़ा। यहाँ 'अज्ञानता' में किया गया कर्म भी फलदायी सिद्ध हुआ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कर्मवाद

कालिदास-प्रणीत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में भी कर्मवाद परिलक्षित होता है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम, मिलन, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। जब नेपथ्य से आवाज आती है कि- 'अयमहं भोः' यह मैं आया हूँ तो अनसूया को किसी अतिथि के आने का आभास होता है तो प्रियंवदा कहती है कि कुटी में शकुन्तला विद्यमान है। तो अनसूया कहती है कि पर आज शकुन्तला का हृदय कहीं अन्यत्र है। चलो देखते हैं यह कहकर अनसूया शकुन्तला के द्वारा होने

वाले कार्य में सन्देह व्यक्त करती है, तभी ऋषि दुर्वासा ने अतिथि-तिरस्कार के कारण शकुन्तला को शाप दिया कि -

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिवा।⁹

अर्थात् हे अतिथि का तिरस्कार करने वाली! अनन्यहृदय से जिसका चिन्तन करती हुई तू उपस्थित हुए मुझ तपस्वी को नहीं देख रही है, वह स्मरण दिलाने पर भी तुमको स्मरण नहीं करेगा, जैसे उन्मत्त व्यक्ति पहले कही बात को स्मरण नहीं करता। ऋषि दुर्वासा का यह शाप अतिथि-सेवारूपी कार्य को न करने के कारण ही शकुन्तला को मिला और बार-बार स्मरण दिलाने पर भी दुष्यन्त ने उसे पहचानने से मना कर दिया। यह कर्मच्युति का ही फल है। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि अपने सामाजिक और नैतिक कर्तव्यों से विमुख होना 'अशुभ कर्म' की श्रेणी में आता है। "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के कथा ढांचे में **भाग्य (नियत) और कर्म** का महत्व पूरे नाटक में स्पष्ट दिखाई देता है। ये सिद्धांत पात्रों के जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं, कथानक के संघर्षों और अंत को गति देते हैं, और मानव जीवन की प्रकृति एवं नैतिक जिम्मेदारी पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत करते हैं।

नाटक में चित्रित **भाग्य**, एक सर्वोपरि शक्ति के रूप में कार्य करता है जो नायकों के जीवन को नियंत्रित करता है। इसे घटनाओं के एक पूर्व निर्धारित क्रम के रूप में दिखाया गया है जिसे आसानी से बदला या जिससे बचा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, ऋषि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की पुत्री होने के कारण शकुन्तला का राजा दुष्यन्त से विवाह होना पूर्व नियत है। भाग्य की उपस्थिति एक प्रकार की अपरिहार्यता का बोध कराती है, जो नाटक में एक दुखद (विषादपूर्ण) स्वर भर देती है।

दूसरी ओर, **कर्म** "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में एक अभिन्न भूमिका निभाता है। यह इस विचार पर जोर देता है कि कार्यों के परिणाम होते हैं और व्यक्ति अपने कार्यों के प्रतिफल के लिए स्वयं जिम्मेदार होता है। नाटक में पात्रों के कार्य और विकल्प सीधे उनके कर्मफल को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर, शकुन्तला को पहचानने में दुष्यन्त की हिचकिचाहट और अपने पितृत्व के उत्तरदायित्वों को स्वीकार न करना, उसे शकुन्तला से वियोग और उसके बाद आने वाली अपरिहार्य पीड़ा की ओर ले जाता है। नाटक इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति के कार्य ही उसके भविष्य का निर्माण करते हैं और नैतिक निर्णयों के दूरगामी प्रभाव होते हैं।

इसके अलावा, यह नाटक भाग्य और कर्म के संबंध में प्रायश्चित और पुनर्मिलन की अवधारणाओं की भी जांच करता है। भाग्य की निश्चितता के बावजूद, पात्रों के पास नैतिक विकल्पों के माध्यम से व्यक्तिगत विकास और उद्धार के अवसर होते हैं। अपने पुत्र के प्रति शकुंतला का प्रेम और उसका अडिग सतीत्व अंततः दुष्यंत के साथ उसके पुनर्मिलन का मार्ग प्रशस्त करता है, जो पिछले अनर्थों को सुधारने और शांति बहाल करने की कर्म की शक्ति को दर्शाता है।

इस प्रकार जाने-अनजाने में भी हमारे द्वारा किये गये शुभ और अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप शुभ और अशुभ कर्मफल की प्राप्ति होती है, इसलिये हमें अशुभ कर्मों को करने से बचना चाहिये और शुभ कर्मों को करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है-

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।”¹⁰

सन्दर्भ

1. रघुवंशम्, 1/2,3
2. रघुवंशम्, 1/77
3. रघुवंशम्, 1/78
4. रघुवंशम्, 1/79
5. रघुवंशम्, 1/77
6. रघुवंशम्, 1/77

सहायक अध्यापिका
(उ.प्र. माध्यमिक शिक्षक एवं पूर्व शोध छात्रा)
वैदिक दर्शन विभाग
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
का.हि.वि.वि., वाराणसी।

सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्त का समेकित चेतना-अध्ययन

अनुराग पाण्डेय

सार

यह शोधपत्र विशिष्टाद्वैत वेदांत में सगुण ब्रह्म की उपासना को केवल भक्ति या धार्मिक आस्था के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के समेकित अध्ययन (Integrative Consciousness Studies) के एक सुसंगत और मौलिक दार्शनिक प्रतिमान के रूप में स्थापित करता है। उपनिषदों में उपासना को जिस प्रकार विद्या और अनुभवात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है, यह अध्ययन दर्शाता है कि रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत उपनिषदिक परंपरा को दार्शनिक स्पष्टता, अस्तित्वगत गहराई और नैतिक विस्तार प्रदान करता है। शोध का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि विशिष्टाद्वैत में सगुण ब्रह्म की उपासना चेतना को न तो निर्गुण निरपेक्षता में विलीन करती है और न ही उसे केवल मानसिक प्रक्रिया तक सीमित करती है, बल्कि उसे संबंधात्मक, मूल्य-प्रधान और अर्थ-संपृक्त चेतना में रूपांतरित करती है। यहाँ उपासना एक ऐसी साधना है जो श्रुति-प्रमाण, ध्यानात्मक अनुशासन और अनुभवात्मक साक्षात्कार को एकीकृत करती है।

यह अध्ययन विशिष्टाद्वैत उपासना की तुलना कॉग्निटिव और क्लिनिकल साइकोलॉजी की अवधारणाओं समकालीन सजगता (Mindfulness), मुक्त-निरीक्षण ध्यान (Open-Monitoring Meditation), कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) तथा सजग जागरूकता (Mindful Awareness) से करते हुए यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक ध्यान-पद्धतियाँ चेतना के कार्यात्मक या phenomenological पक्षों पर केंद्रित रहती हैं, जबकि विशिष्टाद्वैत उपासना चेतना के अस्तित्वगत और नैतिक आयामों को भी समान रूप से समाहित करती है। यह शोध निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि विशिष्टाद्वैत का उपासना-मॉडल चेतना को देहात्मक (embodied), भावात्मक (affective), संबंधात्मक (relational) तथा नैतिक (ethical) स्तरों पर एकीकृत करता है, जिससे यह समकालीन चेतना-अध्ययन और भारतीय ज्ञान-परंपरा (IKS) के बीच एक सशक्त सैद्धान्तिक सेतु

सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन [63]

निर्मित करता है। इस प्रकार, सगुण ब्रह्म की उपासना को समेकित चेतना अध्ययन (Integrative Consciousness Studies) में एक स्वतंत्र भारतीय दार्शनिक मॉडल के रूप में पुनःस्थापित किया जा सकता है।

कूट-शब्द: चेतना, ध्यान, एकाग्रता, फोकस्ड अटेंशन मेडिटेशन, ओपन-मॉनिटरिंग माइंडफुलनेस, मनोविज्ञान, उपासना, विशिष्टाद्वैत वेदान्त

समकालीन चेतना-अध्ययन में ध्यान और सजगता की अवधारणाओं को प्रायः मानसिक प्रक्रियाओं तथा तंत्रिका-वैज्ञानिक क्रियाओं के संदर्भ में समझा जाता है। अनेक शोध यह संकेत करते हैं कि ध्यान-अभ्यास मस्तिष्कीय संरचना, भावनात्मक विनियमन तथा आत्म-नियंत्रण को प्रभावित करता है (Davidson & Lutz, 2008; Lazar et al., 2005)। इसी प्रकार देहात्मक चेतना (Embodied Consciousness) के सिद्धांत में यह प्रतिपादित किया गया है कि चेतना शरीर, भावनाओं और अनुभव के पारस्परिक संबंध से निर्मित होती है (Varela et al., 1991; Damasio, 1999)। तथापि, इन अध्ययनों में चेतना के अस्तित्वगत (Ontological) तथा नैतिक (Ethical) आयाम अपेक्षाकृत कम स्पष्ट होते हैं। वर्तमान अकादमिक विमर्श में एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि भारतीय ध्यान-परंपराओं की व्याख्या प्रायः अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की जाती है, जिसके कारण अन्य वेदान्तीय दृष्टियों—विशेषतः विशिष्टाद्वैत—की विशिष्ट दार्शनिक संभावनाएँ पर्याप्त रूप से उद्घाटित नहीं हो पातीं। उपासना को भी प्रायः या तो धार्मिक अनुष्ठान अथवा मनोवैज्ञानिक ध्यान-तकनीक के रूप में समझ लिया जाता है। यह अध्ययन इस बौद्धिक रिक्ति (intellectual gap) को भरने का प्रयास करता है।

इस शोध का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म की उपासना चेतना का एक समेकित प्रतिमान प्रस्तुत करती है, जिसमें ज्ञान, भक्ति, अनुभव, नैतिकता और अस्तित्वगत संबंध एकीकृत हो जाते हैं। यहाँ चेतना न तो आत्म-विलय की निरपेक्ष अवस्था है और न ही केवल तटस्थ अवलोकन, बल्कि ईश्वर-संबद्ध संबंधात्मक चेतना (relational consciousness) है। इस दृष्टि से विशिष्टाद्वैत उपासना को समकालीन समेकित चेतना अध्ययन (Integrative Consciousness Studies) के साथ दार्शनिक संवाद में रखा जा सकता है।

भारतीय दर्शन के विभिन्न शास्त्र चेतना, आत्म-ज्ञान, और जीवन के उद्देश्य पर गहन दृष्टि प्रदान करते हैं। उपनिषदों में चेतना और आत्मा की प्रकृति पर अनेक विवेचन हैं, जिनमें से विशिष्टाद्वैत वेदान्त अपने सगुण ब्रह्म परकृत दृष्टिकोण के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। रामानुजाचार्य के अनुसार, ब्रह्म केवल निराकार

[64] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन

चेतना नहीं, बल्कि सगुण रूप और अनुभूत अनुभव का केंद्र है (रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य, १.२.३)। यही दृष्टिकोण उपासना के माध्यम से साधक को आत्म-अनुभूति, नैतिक विकास और चेतना-समग्रता की ओर ले जाता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में, विशेषतः उपनिषदों में, चेतना को केवल मानसिक क्रिया नहीं बल्कि अस्तित्व की आधारभूत संरचना के रूप में समझा गया है (Radhakrishnan, 1953; Olivelle, 1998)। विशिष्टाद्वैत वेदान्त इस दृष्टि को और विकसित करते हुए चेतना को ईश्वर-संबद्ध संबंधात्मक सत्ता के रूप में प्रतिपादित करता है। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म केवल निराकार सत्ता नहीं बल्कि अनन्त कल्याण गुणों से युक्त सगुण परमसत्ता है, जिसके साथ जीव का वास्तविक संबंध है (Dasgupta, 1922; Hiriyanna, 1956)। वर्तमान अकादमिक विमर्श में एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि भारतीय ध्यान परंपराओं की व्याख्या प्रायः अद्वैत वेदान्त के संदर्भ में की जाती है, जिसके कारण विशिष्टाद्वैत की दार्शनिक संभावनाएँ पर्याप्त रूप से उद्घाटित नहीं हो पातीं। यह शोध इस बौद्धिक रिक्ति को भरने का प्रयास करता है।

उपनिषदों में ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में प्रस्तुत किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में “ॐ इति एकाक्षरं उद्गीथम्” का पाठ साधक को ध्वनि आधारित चेतना के माध्यम से ब्रह्म के प्रत्यक्ष अनुभव की ओर ले जाता है। इसी प्रकार, ईशावास्य उपनिषद् में “ईशावास्यमिदं सर्वम्” यह उद्घाटित करता है कि ब्रह्म न केवल आत्मा और जगत में व्याप्त है, बल्कि उसका अनुभव साधक के भाव, चित्त, और कर्मों में प्रत्यक्ष होता है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में उपासना को केवल ब्रह्म-प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि एक संज्ञानात्मक-अस्तित्वगत प्रक्रिया (epistemic-ontological process) के रूप में समझा जाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान न तो केवल श्रुति-पाठ की बहुलता से प्राप्त होता है और न ही मात्र तर्क या बौद्धिक मेधा से; बल्कि वह उपासना के माध्यम से चेतना में क्रमशः अंतःस्थित होकर स्थायी रूप से अवस्थित होता है। यह दृष्टि उपनिषद् के प्रसिद्ध वचन—“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन”—से सैद्धान्तिक रूप से समर्थित है, जो यह स्पष्ट करता है कि आत्म-तत्त्व न तो वाचिक विवेचन से, न तीक्ष्ण बुद्धि से और न ही श्रुति-ज्ञान की मात्रा से उपलब्ध होता है, बल्कि आन्तरिक साधना द्वारा प्रकाशित होता है। रामानुजाचार्य इस उपनिषदिक कथन की व्याख्या करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि उपासना केवल ज्ञान की पूर्व-तैयारी नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्म-ज्ञान की वह प्रक्रिया है जिसमें ज्ञान, भक्ति और अस्तित्वगत रूपान्तरण एकीकृत हो जाते हैं (श्रीभाष्य, ब्रह्मसूत्र 1.1.1 पर उपासना-ज्ञान संबंधी विवेचन)। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म-ज्ञान एक क्षणिक बौद्धिक उपलब्धि नहीं,

समाज, धर्म एवं दर्शन

बल्कि उपासना द्वारा निर्मित चेतना की स्थायी अवस्था बन जाता है। उपासना यहाँ ज्ञान का कारण नहीं, बल्कि ज्ञान का आकार (mode of knowing) निर्धारित करती है। इस अर्थ में, उपासना को विशिष्टाद्वैत में एक ऐसी विद्या माना गया है जो जानने वाले (ज्ञाता) की संरचना को ही रूपांतरित कर देती है।

उपनिषदों में उपासना की व्याख्या केवल किसी बाह्य धार्मिक कर्म या पूजा-विधि के रूप में नहीं की गई है, बल्कि उसे चेतना के आन्तरिक अनुशासन और ब्रह्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया के रूप में समझा गया है। उपासना का मूल अर्थ है—उप (निकट) + आसन (स्थित होना), अर्थात् चेतना का ब्रह्म के समीप स्थिर होना। इस दृष्टि से उपासना ज्ञान के विरुद्ध नहीं, बल्कि ज्ञान को जीवित, स्थायी और अस्तित्वगत बनाने वाली साधना है। उपनिषदों में उपासना को जिस प्रकार विद्या कहा गया है, वह इस तथ्य को सूचित करता है कि यहाँ ज्ञान का आशय केवल बौद्धिक बोध (conceptual cognition) नहीं, बल्कि अनुभूत सत्य (lived truth) है। छान्दोग्य उपनिषद् में उपासना का प्रयोग प्रतीकात्मक ध्यान से लेकर ब्रह्म-चिंतन तक विस्तृत है, परंतु उसका उद्देश्य सदैव चेतना का रूपांतरण है, न कि केवल सूचना का संप्रेषण (छान्दोग्य उपनिषद् १-७)। विशिष्टाद्वैत वेदान्त इस उपनिषदिक अंतर्दृष्टि को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि ब्रह्म-ज्ञान तब तक अपूर्ण रहता है, जब तक वह उपासना के माध्यम से चेतना में स्थायित्व प्राप्त न कर ले। रामानुजाचार्य अपने गीता-भाष्य में ब्रह्म-ज्ञान की इस स्थायित्वात्मक प्रकृति को “तैलधारावच्छिन्नवत्”—अर्थात् तेल की अविच्छिन्न धारा के समान—निरूपित करते हैं। यह उपमा भगवद्गीता के ध्यान-प्रसंग (षष्ठ अध्याय) में प्रयुक्त होती है और यह स्पष्ट करती है कि ब्रह्म-ज्ञान कोई क्षणिक बौद्धिक बोध नहीं, बल्कि उपासना द्वारा निरन्तर पोषित, अविच्छिन्न और चेतना में स्थायी रूप से अवस्थित होने वाली अवस्था है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में उपासना ज्ञान की केवल सहायक प्रक्रिया न होकर, ब्रह्म-ज्ञान को अस्तित्वगत रूप से स्थिर और रूपांतरणकारी बनाने वाली केंद्रीय साधना बन जाती है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक भेद स्पष्ट करना आवश्यक है। अद्वैत वेदांत में उपासना को प्रायः ज्ञान-प्राप्ति का एक सहायक साधन माना गया है, जिसका अंतिम उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म में लय है। इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत में उपासना स्वयं ज्ञान की पूर्ण अवस्था है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म का स्वरूप सदा सगुण, साकार और संबन्धात्मक है। अतः उपासना ज्ञान की पूर्व अवस्था नहीं, बल्कि ज्ञान का परिपक्व रूप है। यह दृष्टि उपासना को एक अस्थायी अनुशासन के स्थान पर एक स्थायी चेतना-स्थिति (stable mode of awareness) के रूप में स्थापित करती है।

[66] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन

रामानुजाचार्य के अनुसार, जीव की चेतना स्वभावतः सीमित और आश्रित है, किंतु वह मिथ्या नहीं है। उपासना के माध्यम से चेतना अपने आश्रय—सगुण ब्रह्म—को पहचानती है और उसी के अनुरूप स्वयं को विन्यस्त करती है (रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य, १.१.४)। इस प्रक्रिया में चेतना का अहं-केन्द्रित स्वरूप क्रमशः ईश्वर-केन्द्रित हो जाता है। यह रूपांतरण किसी नकारात्मक निषेध से नहीं, बल्कि संबंधात्मक स्वीकृति (relational affirmation) से घटित होता है।

आधुनिक ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में यह दृष्टि विशेष महत्व रखती है। जहाँ पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान को प्रायः प्रतिज्ञात्मक ज्ञान (propositional knowledge) या प्रतिनिधात्मक (Representational) माना जाता है, वहीं विशिष्टाद्वैत में ज्ञान अस्तित्वोन्मुख (Being-oriented) है। यहाँ जानना और होना अलग नहीं हैं। उपासना चेतना को इस प्रकार ढालती है कि ब्रह्म केवल ज्ञेय वस्तु नहीं रहता, बल्कि चेतना का स्थायी संदर्भ-बिंदु (constitutive reference point) बन जाता है। इस प्रकार उपासना ज्ञान का कारण नहीं, बल्कि ज्ञान का ढाँचा (structure of knowing) निर्मित करती है। इस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट होता है कि विशिष्टाद्वैत की उपासना को आधुनिक ध्यान-पद्धतियों के समकक्ष रखकर नहीं समझा जा सकता। यहाँ ध्यान का लक्ष्य मानसिक शांति या सजगता मात्र नहीं, बल्कि चेतना का अस्तित्वगत पुनर्संयोजन (ontological reorientation) है। सगुण ब्रह्म उपासना के केंद्र में केवल एक ध्यान-विषय नहीं, बल्कि चेतना का परम आदर्श है, जिसके सापेक्ष जीव स्वयं को समझता, अनुभव करता और आचरण करता है।

उपनिषदों में उपासना का प्रयोग किसी एकरूप साधना के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के क्रमिक परिष्कार की एक विधि के रूप में हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में उपासनाओं की विविधता इस तथ्य को सूचित करती है कि उपासना का उद्देश्य किसी विशिष्ट प्रतीक की पूजा नहीं, बल्कि चेतना को ब्रह्म-अनुकूल ढाँचे में विन्यस्त करना है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त इन उपासनाओं को स्वतंत्र, असंबद्ध ध्यान-विधियों के रूप में नहीं, बल्कि एक सुसंगत दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में समझता है, जिसमें प्रतीकात्मक चिंतन क्रमशः अस्तित्वगत बोध में रूपांतरित होता है।

उद्गीथ उपासना (छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय १) उपनिषदिक उपासना-परंपरा का प्रारम्भिक और अत्यंत महत्वपूर्ण उदाहरण है। यहाँ ओंकार को केवल ध्वनि-प्रतीक नहीं, बल्कि प्राण, इन्द्रिय और ब्रह्म के मध्य सेतु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से उद्गीथ उपासना चेतना को यह सिखाती है कि ब्रह्म को किसी बाह्य वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि अनुभव की अंतःलय में

समाज, धर्म एवं दर्शन

सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन [67]

विद्यमान सत्ता के रूप में समझा जाए। रामानुजाचार्य के अनुसार, ओंकार की उपासना जीव की विखंडित चेतना को एकीकृत करती है और उसे सगुण ब्रह्म की ओर अभिमुख करती है (श्रीभाष्य, १.१.१)। यहाँ ध्वनि का ध्यान अंततः अर्थ की अनुभूति में परिणत होता है।

इसके पश्चात् प्राण उपासना (छान्दोग्य उपनिषद् १-२) चेतना को उसके जैविक और जीवनात्मक आधार से जोड़ती है। प्राण को सर्वोच्च सिद्ध करने वाली उपासना यह स्पष्ट करती है कि चेतना कोई अमूर्त, देह-विमुख सत्ता नहीं है। विशिष्टाद्वैत में यह उपासना चेतना के शारीरिक स्वरूप को मान्यता देती है। प्राण यहाँ केवल शारीरिक शक्ति नहीं, बल्कि ईश्वर-नियंत्रित जीवन-संरचना है। उपासना के माध्यम से साधक जीवन को ईश्वर-आश्रित सत्ता के रूप में अनुभव करता है, जिससे चेतना में कृतज्ञता और विनय का विकास होता है (रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य, २.३.१)। यह बिंदु आधुनिक embodied cognition के सिद्धांतों से भी साम्य रखता है, जहाँ चेतना को देह से अविभाज्य माना जाता है।

सूर्य, अग्नि और आकाश उपासनाएँ (छान्दोग्य उपनिषद् ३-५) चेतना के बाह्य और आंतरिक आयामों के बीच निरंतरता को स्थापित करती हैं। सूर्य उपासना में प्रकाश को ज्ञान का प्रतीक नहीं, बल्कि ज्ञान की क्रियाशील सत्ता माना गया है। विशिष्टाद्वैत में सूर्य सगुण ब्रह्म के तेजस्-स्वरूप का प्रतीक है, जिससे चेतना में स्पष्टता और विवेक उत्पन्न होता है। अग्नि उपासना चेतना के शुद्धिकरण का द्योतक है, जहाँ कामना और अहं का दहन एक नैतिक रूपांतरण की प्रक्रिया बन जाता है। आकाश उपासना चेतना के विस्तार को सूचित करती है—एक ऐसा विस्तार जो शून्यता नहीं, बल्कि ईश्वर-व्याप्त पूर्णता का अनुभव कराता है।

अन्न और प्रकाश (तेजस्) की उपासना (छान्दोग्य उपनिषद् ५-६) विशिष्टाद्वैत की उस मूल अंतर्दृष्टि को उद्घाटित करती है, जिसके अनुसार ब्रह्म और जगत के बीच कोई द्वैत नहीं है। अन्न को ब्रह्म के रूप में देखना इस तथ्य को स्थापित करता है कि उपासना जीवन-विमुख नहीं, बल्कि जीवन-केन्द्रित है। यहाँ भोजन, पोषण और भौतिकता को आध्यात्मिक अनुभव के विरोध में नहीं रखा गया, बल्कि उन्हें चेतना के विकास का माध्यम माना गया है। रामानुजाचार्य के अनुसार, यह उपासना साधक को संसार से विमुख नहीं करती, बल्कि उसे ईश्वर-संपृक्त संसार-दृष्टि प्रदान करती है (श्रीभाष्य, १.४.२)।

इन सभी उपासनाओं का समन्वित उद्देश्य चेतना को प्रतीक से सत्य की ओर, ध्यान से अनुभूति की ओर, और ज्ञान से नैतिक जीवन की ओर ले जाना है। विशिष्टाद्वैत वेदांत इन उपासनाओं को किसी क्रमिक त्याग योग्य साधन के रूप में

वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

[68] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन नहीं, बल्कि एक सतत चेतना-अभ्यास (continuous mode of awareness) के रूप में समझता है। उपासना यहाँ न तो प्रारम्भिक साधना मात्र है और न ही केवल मनोवैज्ञानिक तकनीक, बल्कि सगुण ब्रह्म के साथ जीव के अस्तित्वगत संबंध को अनुभवात्मक रूप से साकार करने की विधि है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ध्यान (ध्यान / उपासना) को केवल मन की एकाग्रता की तकनीक नहीं, बल्कि भक्ति-प्रधान, सगुण-ब्रह्मोन्मुख और अस्तित्वगत साधना के रूप में समझा जाता है। यहाँ ध्यान का उद्देश्य किसी तटस्थ वस्तु पर चित्त को स्थिर करना नहीं, बल्कि ईश्वर के साक्षात् संबंध में चेतना को अविच्छिन्न रूप से स्थापित करना है। रामानुजाचार्य के अनुसार ध्यान वह प्रक्रिया है जिसमें ब्रह्म-ज्ञान क्षणिक बौद्धिक बोध न रहकर निरन्तर अनुभूत चेतनावस्था बनता है। इसीलिए वे ध्यान को ज्ञान के विरुद्ध नहीं, बल्कि ज्ञान का स्थायीकरण मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत में ध्यान का विषय अनिवार्यतः सगुण ब्रह्म है—अर्थात् नाम, रूप, गुण और लीला से युक्त ईश्वर (नारायण/विष्णु)। साधक ईश्वर को केवल “जानता” नहीं, बल्कि उनसे संबंध में जीता है। यही कारण है कि ध्यान यहाँ नैतिक निष्क्रियता नहीं, बल्कि नैतिक रूपान्तरण की ओर ले जाता है। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य स्पष्ट करते हैं कि ध्यान/उपासना श्रवण-मनन के बाद का वैकल्पिक अभ्यास नहीं, बल्कि ब्रह्म-ज्ञान की सजीव प्रक्रिया है। इसी प्रकार भगवद्गीता के ध्यान-प्रकरण की उनकी व्याख्या में ध्यान को भक्ति-समन्वित ज्ञान के रूप में रखा गया है—जहाँ चित्त की स्थिरता, प्रेम और समर्पण एक साथ क्रियाशील होते हैं। विशिष्टाद्वैत उपासना का विशेष सिद्धांत यह है कि साधक सगुण ब्रह्म के संबंध में अपने अनुभवों को व्यवस्थित करता है। उपासना केवल मानसिक एकाग्रता का साधन नहीं, बल्कि भावनात्मक, नैतिक, और सामाजिक चेतना का माध्यम है³। रामानुजाचार्य के अनुसार, आत्मा और ब्रह्म का संबंध सेवा, प्रेम और अनन्य भक्ति के आधार पर स्थापित होता है, और यही संबंध उपासना की प्रक्रिया का केंद्र बनता है (रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य, २.१.५)⁴।

समकालीन चेतना-अध्ययन में सजगता (Mindfulness) और ध्यान-पद्धतियों को प्रायः मूल्य-निरपेक्ष (value-neutral) तकनीकों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिनका प्राथमिक उद्देश्य मानसिक विनियमन, सजगता और अनुभवात्मक स्पष्टता है। इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत वेदान्त की उपासना चेतना को किसी तटस्थ मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि अस्तित्वगत और नैतिक रूप से अभिमुख संरचना के रूप में समझती है। यह मौलिक भेद विशिष्टाद्वैत उपासना को आधुनिक ध्यान-पद्धतियों से सैद्धान्तिक रूप से अलग स्थापित करता है।

आधुनिक अकादमिक संदर्भ में एकाग्रता-केन्द्रित ध्यान (Focused Attention Meditation) को संज्ञानात्मक मनोविज्ञान (Cognitive Psychology) और तंत्रिका-विज्ञान के अंतर्गत समझा जाता है। इसे एक एकाग्रता-प्रशिक्षण तकनीक (attention-training technique) माना जाता है, जिसका उद्देश्य ध्यान-क्षमता, संज्ञानात्मक नियंत्रण और मानसिक एकाग्रता को विकसित करना है। एकाग्रता-केन्द्रित ध्यान (Focused Attention Meditation) में चेतना किसी एक वस्तु—श्वास, ध्वनि या प्रतीक—पर स्थिर की जाती है। इसका लक्ष्य ध्यान-भंग को कम करना और एकाग्रता को बढ़ाना है। इस अभ्यास का मूल उद्देश्य मन की चंचलता को नियंत्रित करना और ध्यान-भंग को कम करते हुए एकाग्रता को सुदृढ़ करना है। जब भी मन भटकता है, साधक बिना किसी मूल्यांकन या आत्म-आलोचना के उस विचलन को पहचानता है और पुनः उसी ध्यान-विषय की ओर लौट आता है। यही निरंतर लौटने की प्रक्रिया मानसिक अनुशासन और संज्ञानात्मक नियंत्रण को विकसित करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पद्धति ध्यान-क्षमता, कार्यशील स्मृति और आत्म-नियमन को बढ़ाती है। विशिष्टाद्वैत उपासना भी एकाग्रता को महत्व देती है, किंतु यहाँ ध्यान-विषय कोई तटस्थ वस्तु नहीं, बल्कि सगुण ब्रह्म है, जो चेतना का परम अस्तित्वगत आदर्श है। इस कारण उपासना में एकाग्रता केवल मानसिक कौशल नहीं, बल्कि चेतना के मूल्य-केन्द्र का निर्धारण करती है। यहाँ ध्यान का फल सजगता नहीं, बल्कि ईश्वर-केन्द्रित आत्म-बोध है।

मुक्त-निरीक्षण सजगता (Open-Monitoring Mindfulness) की अवधारणा आधुनिक कॉग्निटिव और क्लिनिकल साइकोलॉजी के अंतर्गत विकसित हुई है और इसे ध्यान-आधारित हस्तक्षेपों (mindfulness-based interventions) में प्रयोग किया जाता है। यह अवधारणा अनुभवों को बिना मूल्यांकन के देखने पर बल देती है। यह दृष्टि चेतना को प्रतिक्रियात्मकता से मुक्त करने का प्रयास करती है। यह ध्यान की वह पद्धति है जिसमें चेतना किसी एक विशिष्ट वस्तु पर केंद्रित न होकर, उपस्थित होते जा रहे सभी अनुभवों—जैसे विचार, भावनाएँ, संवेदनाएँ और बाह्य ध्वनियाँ—को खुली और ग्रहणशील अवस्था में देखा जाता है। इसमें साधक अनुभवों को न तो दबाने का प्रयास करता है और न ही उनके साथ तादात्म्य स्थापित करता है, बल्कि उन्हें जैसे वे हैं वैसे ही, बिना मूल्यांकन, स्वीकार करता है। इस अभ्यास का उद्देश्य मन की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों को शिथिल करना और चेतना को स्वचालित आसक्ति-विरक्ति से मुक्त करना है। मुक्त-निरीक्षण सजगता (Open-Monitoring Mindfulness) में चेतना साक्षीभाव में स्थित रहती है, जिससे अनुभव आते-जाते रहते हैं और साधक उनके प्रवाह को केवल देखता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह पद्धति भावनात्मक संतुलन, आत्म-नियमन और

[70] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन अंतर्दृष्टि को विकसित करती है। विशिष्टाद्वैत इस साक्षीभाव को पूर्णतः अस्वीकार नहीं करता, परंतु उसे पर्याप्त भी नहीं मानता। विशिष्टाद्वैत में चेतना का लक्ष्य केवल अनुभवों का निरीक्षण नहीं, बल्कि उन्हें ईश्वर-संबद्ध अर्थ-क्षेत्र में समझना है। इसीलिए उपासना में चेतना निष्क्रिय साक्षी नहीं रहती, बल्कि सक्रिय रूप से सगुण ब्रह्म की ओर उन्मुख होती है। यह सक्रिय अभिमुखता विशिष्टाद्वैत को नैतिक निष्क्रियता से बचाती है।

कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) और निर्देशित कल्पना (guided imagery) में मानसिक रूप-निर्माण को चेतना-परिवर्तन का साधन माना जाता है। कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) और निर्देशित कल्पना (guided imagery) ध्यान की ऐसी विधियाँ हैं जिनमें चेतना को कल्पनात्मक छवियों (mental images) के माध्यम से सक्रिय रूप से दिशा दी जाती है। कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) में साधक स्वयं किसी प्रतीक, दृश्य, प्रकाश, देव-रूप, चक्र या आदर्श अवस्था की कल्पना करता है और उस छवि को मन में स्थिर रखते हुए उससे तादात्म्य स्थापित करता है। इसका उद्देश्य चेतना को एक सकारात्मक, अर्थपूर्ण और संगठित रूप प्रदान करना होता है, जिससे मानसिक एकाग्रता, भावनात्मक स्थिरता और आंतरिक रूपांतरण संभव हो सके। यहाँ कल्पना पलायन नहीं, बल्कि चेतना को प्रशिक्षित करने का साधन होती है, जिसमें मन अपनी बिखरी हुई प्रवृत्तियों को एक रचनात्मक रूप में केंद्रित करता है।

निर्देशित कल्पना (guided imagery), कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) का ही निर्देशित रूप है, जिसमें साधक स्वयं कल्पना का निर्माण नहीं करता, बल्कि किसी शिक्षक, रिकॉर्डिंग या पाठ के माध्यम से चरणबद्ध निर्देशों का अनुसरण करता है। इन निर्देशों में प्रायः शांत प्राकृतिक दृश्य, सुरक्षित स्थान, उपचारात्मक प्रकाश या आंतरिक यात्रा का वर्णन होता है, जिनका उद्देश्य मन को शिथिल करना और अवचेतन स्तर पर सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करना होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निर्देशित कल्पना (guided imagery) तनाव-नियंत्रण, भावनात्मक उपचार और आत्म-संतुलन में सहायक मानी जाती है। इस प्रकार कल्पना-आधारित ध्यान (Visualization Meditation) जहाँ चेतना की सक्रिय रचनात्मक शक्ति पर आधारित है, वहीं निर्देशित कल्पना (guided imagery) चेतना को बाह्य मार्गदर्शन के माध्यम से क्रमशः भीतर की ओर ले जाती है; दोनों ही विधियाँ कल्पना को एक अनुशासित साधना में रूपांतरित करती हैं। विशिष्टाद्वैत उपासना में सगुण ब्रह्म के रूप, गुण और लीलाओं का ध्यान अवश्य

सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन [71]

किया जाता है, परंतु यह ध्यान कल्पना-आधारित नहीं, बल्कि श्रुति-प्रमाणित यथार्थ पर आधारित है। रामानुजाचार्य के अनुसार, ईश्वर के गुण जीव की मानसिक प्रक्षेपण नहीं, बल्कि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के आयाम हैं (श्रीभाष्य, १.४.१)। इस कारण विशिष्टाद्वैत उपासना में visualization चेतना को भ्रमात्मक संरचना में नहीं, बल्कि अस्तित्वगत सत्य की दिशा में पुनर्संरचित करती है।

सचेत जागरूकता (Mindful Awareness) का उद्देश्य क्षण-क्षण की सजगता और आत्म-नियंत्रण है। यह चेतना को वर्तमान में स्थिर करता है, किंतु उसे किसी परम अर्थ या उद्देश्य से अनिवार्यतः नहीं जोड़ता। इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत उपासना में चेतना की सजगता सदा ईश्वर-सापेक्ष होती है। यहाँ जागरूकता मूल्य-निरपेक्ष नहीं, बल्कि ईश्वर-केंद्रित है। इस कारण विशिष्टाद्वैत में चेतना का विकास केवल सजगता नहीं, बल्कि उद्देश्य सजगता है—एक ऐसी सजगता जो अस्तित्व, नैतिकता और संबंध को एकीकृत करती है।

इन तुलनाओं से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ आधुनिक ध्यान-पद्धतियाँ चेतना को मुख्यतः phenomenological और कार्यात्मक (functional) स्तर पर समझती हैं, वहीं विशिष्टाद्वैत उपासना चेतना के अस्तित्वगत (ontological), नैतिक और संबंध-आधारित (relational) आयामों को अनिवार्य रूप से समाहित करती है। आधुनिक सजगता (Mindfulness) स्व (Self) को केन्द्र-विस्थापन (de-centre) करने की प्रवृत्ति रखती है, जबकि विशिष्टाद्वैत उपासना स्व (Self) को नष्ट नहीं करती, बल्कि उसे ईश्वर-संबद्ध संबंधात्मक सत्ता के रूप में पुनःपरिभाषित करती है। इस प्रकार, विशिष्टाद्वैत उपासना समकालीन चेतना-अध्ययन के लिए एक वैकल्पिक सैद्धान्तिक प्रतिमान प्रस्तुत करती है—एक ऐसा प्रतिमान जिसमें चेतना न तो केवल मानसिक प्रक्रिया है और न ही निरपेक्ष आत्म-साक्षात्कार, बल्कि ईश्वर-संबद्ध, मूल्य-प्रधान और नैतिक रूप से उत्तरदायी अस्तित्व है। यही विशेषता इसे Integrative Consciousness Studies में एक स्वतंत्र और मौलिक भारतीय योगदान के रूप में स्थापित करती है।

विशिष्टाद्वैत वेदांत में सगुण ब्रह्म की उपासना का एक अनिवार्य, किंतु प्रायः अव्यक्त पक्ष उसका नैतिक आयाम है। यहाँ नैतिकता किसी बाह्य सामाजिक अनुशासन या आरोपित आचार-संहिता के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के रूपांतरण का स्वाभाविक परिणाम है। रामानुजाचार्य के अनुसार, जब जीव की चेतना सगुण ब्रह्म की ओर स्थायी रूप से अभिमुख हो जाती है, तब उसके कर्म, भाव और निर्णय अनिवार्यतः ईश्वर-संबद्ध हो जाते हैं (श्रीभाष्य, १.१.४)। इस दृष्टि से उपासना नैतिकता का कारण नहीं, बल्कि नैतिकता की अस्तित्वगत आधारभूमि है।

वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

[72] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन

उपनिषदों में यह नैतिक चेतना अप्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि दार्शनिक संरचना के भीतर निहित है। ईशावास्य उपनिषद् का उद्धोष— “ईशावास्यमिदं सर्वं”— यह संकेत करता है कि ब्रह्म की अनुभूति केवल आंतरिक ध्यान तक सीमित नहीं रहती, बल्कि संसार के साथ व्यवहार में साकार होती है। विशिष्टाद्वैत इस सूत्र को यह अर्थ प्रदान करता है कि जब समस्त जगत् सगुण ब्रह्म का शरीर है, तब किसी भी प्राणी के प्रति अनादर या हिंसा दार्शनिक रूप से असंगत हो जाती है। इस प्रकार उपासना चेतना को करुणा, दायित्व और सेवा की ओर अनिवार्य रूप से उन्मुख करती है।

यह बिंदु समकालीन नैतिक दर्शन और नैतिक मनोविज्ञान (Moral Psychology) से भी संवाद स्थापित करता है। आधुनिक शोध यह दर्शाते हैं कि वे ध्यान-पद्धतियाँ जो संबंधात्मक जागरूकता (Relational Awareness) और करुणा (Compassion) को सम्मिलित करती हैं, वे नैतिक संवेदनशीलता को गहराई से प्रभावित करती हैं। विशिष्टाद्वैत उपासना में यह करुणा कोई सहायक अभ्यास नहीं, बल्कि ब्रह्म-अनुभूति का स्वाभाविक विस्तार है। यहाँ चेतना का रूपांतरण केवल आंतरिक शांति तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व में परिणत होता है।

शैक्षिक संदर्भ में, विशिष्टाद्वैत उपासना आधुनिक ज्ञान-प्रतिमानों के लिए एक मौलिक चुनौती प्रस्तुत करती है। समकालीन शिक्षा प्रायः ज्ञान को सूचना (information) और कौशल (skills) तक सीमित कर देती है। इसके विपरीत, उपनिषदिक परंपरा में ज्ञान का लक्ष्य *being* का रूपांतरण है। विशिष्टाद्वैत उपासना इस परंपरा को व्यवस्थित रूप से यह स्थापित करती है कि अधिगम (learning) केवल संज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं, बल्कि आत्म-परिवर्तन (self-transformation) है। इस दृष्टि से उपासना एक contemplative pedagogy का आधार बन सकती है, जिसमें ज्ञान, मूल्य और आत्म-पहचान एकीकृत हों।

भारतीय ज्ञान-परंपरा (IKS) के संदर्भ में यह अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उपासना को केवल धार्मिक अभ्यास मानना एक उपनिवेशकालीन बौद्धिक विरासत है। विशिष्टाद्वैत उपासना वास्तव में चेतना, ज्ञान और नैतिकता का एक समग्र दर्शन प्रस्तुत करती है, जो समकालीन समेकित चेतना अध्ययन (Integrative Consciousness Studies) के साथ सैद्धान्तिक संवाद करने में सक्षम है। यहाँ चेतना को देहात्मक (embodied), भावात्मक (affective), संबंधात्मक (relational) तथा नैतिक (ethical) स्तरों पर एकीकृत (integrated) किया गया है।— एक ऐसा प्रतिमान जो आधुनिक विज्ञान में अब धीरे-धीरे उभर रहा है।

समग्र रूप से यह शोध यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि विशिष्टाद्वैत में सगुण

समाज, धर्म एवं दर्शन

सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन [73]

ब्रह्म की उपासना न तो केवल भक्ति है, न ही केवल ध्यान-तकनीक, बल्कि चेतना का एक दार्शनिक रूप से सुसंगत, अनुभवात्मक रूप से सत्यापित और नैतिक रूप से उत्तरदायी मॉडल है। यह मॉडल न केवल उपनिषदिक परंपरा को आधुनिक संदर्भ में पुनःसार्थक बनाता है, बल्कि चेतना-अध्ययन के वैश्विक विमर्श में एक स्वतंत्र भारतीय योगदान प्रस्तुत करता है। उपासना की परंपरा में यह सम्बन्ध केवल ध्यान तक सीमित नहीं रहता; यह कर्म, नैतिकता, और समाज-प्रभावित चेतना तक फैलता है। साधक सीखता है कि उसकी अनुभूतियाँ, उसकी भावना-प्रक्रिया, तथा उसका अनुभव-चेतना सगुण ब्रह्म के मुखरित सम्बन्ध से संबद्ध है। यही वह समेकित अध्ययन (Integrative Consciousness Studies) है जिसमें चेतना केवल अवैज्ञानिक निरीक्षण नहीं, केवल न्यूरो-मानसिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि अनुभव-सम्बन्ध, सेवा, भक्ति, और नैतिक जीवन व्यवहार का प्रत्यक्ष आयाम है।

संदर्भ ग्रंथ

1. दामासियो, ए. आर. (1999). *द फीलिंग ऑफ व्हाट हैपन्स: बाँडी एंड इमोशन इन द मेकिंग ऑफ कॉन्शसनेस*. हारकोर्ट ब्रेस।
2. दासगुप्त, एस. (1922). *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी* (खंड 1). कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. डेविडसन, आर. जे., एवं लुटज़, ए. (2008). बुद्धाज़ ब्रेन: न्यूरोप्लास्टिसिटी एंड मेडिटेशन. *ट्रेंड्स इन कॉग्निटिव साइंसेज़*, 12(5), 163–169. <https://doi.org/10.1016/j.tics.2008.01.005>
4. डेविडसन, आर. जे., एवं मैकइवेन, बी. एस. (2012). सोशल इन्फ्लुएंसेंस ऑन न्यूरोप्लास्टिसिटी: स्ट्रेस एंड इंटरवेंशन्स टू प्रमोट वेल-बीइंग. *नेचर न्यूरोसाइंस*, 15(5), 689–695. <https://doi.org/10.1038/nn.3093>
5. हिरियन्ना, एम. (1951). *इंडियन फिलॉसफी*. जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
6. हिरियन्ना, एम. (1956). *द एसेंशियल्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी*. जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
7. इम्मोर्डिनो-यांग, एम. एच. (2016). *इमोशन्स, लर्निंग एंड द ब्रेन: एक्सप्लोरिंग द एजुकेशनल इम्प्लीकेशन्स ऑफ अफेक्टिव न्यूरोसाइंस*. डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एंड कंपनी।
8. कवट-जिन, जे. (1990). *फुल कैटास्ट्रॉफी लिविंग: यूज़िंग द विजडम ऑफ योर बाँडी एंड माइंड टू फेस स्ट्रेस, पेन एंड इलनेस*. डेलाकोर्ट प्रेस।

- [74] सगुण ब्रह्म के आलोक में उपासना: विशिष्टाद्वैत वेदान्तका समेकित चेतना-अध्ययन
9. कोस्लिन, एस. एम., थॉम्पसन, डब्ल्यू. एल., एवं गैनिस, जी. (2006). मेंटल इमेजरी एंड द ब्रेन: ए रिव्यू. *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, 113(4), 699–734. <https://doi.org/10.1037/0033-295X.113.4.699>
 10. लाज़र, एस. डब्ल्यू., केर, सी. ई., वासरमैन, आर. एच., ग्रे, जे. आर., ग्रीव, डी. एन., ट्रेडवे, एम. टी., एवं फिशल, बी. (2005). मेडिटेशन एक्सपीरियंस इज़ एसोसिएटेड विथ इंक्रीज्ड कॉर्टिकल थिकनेस. *न्यूरोरिपोर्ट*, 16(17), 1893–1897. <https://doi.org/10.1097/01.wnr.0000186598.66243.19>
 11. ओलिवेल, पी. (1998). *द उपनिषद्स*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
 12. राधाकृष्णन, एस. (1951). *इंडियन फिलॉसफी* (खंड 1). जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
 13. राधाकृष्णन, एस. (1953). *द प्रिंसिपल उपनिषद्स*. जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
 14. सिंगर, टी., एवं क्लिमेकी, ओ. एम. (2014). एम्पैथी एंड कम्पैशन. *करेंट बायोलॉजी*, 24(18), R875–R878. <https://doi.org/10.1016/j.cub.2014.06.054>
 15. टिमाल्सिना, एस. (2015). *सीइंग एंड अपीयरेंस: उपासना इन द वेदिक एंड तांत्रिक ट्रेडिशनस*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
 16. वरेला, एफ. जे., थॉम्पसन, ई., एवं रोश, ई. (1991). *द एम्बॉडीड माइंड: कॉग्निटिव साइंस एंड ह्यूमन एक्सपीरियंस*. एमआईटी प्रेस।
 17. ईशावास्य उपनिषद्।
 18. छान्दोग्य उपनिषद्। (अध्याय 1–5; 5.1.1 सहित)।
 19. तैत्तिरीय उपनिषद्। (3.2)।
 20. रामानुजाचार्य। *श्रीभाष्य* (1.1.1; 1.1.9; 3.3.24; तथा विभिन्न अध्याय एवं सूत्र)।
 21. कठोपनिषद् 1.2.23.
 22. रामानुजाचार्य. (2005). *श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य* (संस्कृत मूल एवं हिन्दी अनुवाद सहित). गीता प्रेस, गोरखपुर।

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग
जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
ई-मेल: anurag87.au@gmail.com

समाज, धर्म एवं दर्शन

प्रो. संगमलाल पाण्डेय एवं लैंगिक समानता

अमित कुमार मिश्र

प्रो. संगम लाल पाण्डेय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग की विद्वत परम्परा के उन लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों में है जिनका अकादमिक अध्यवसाय दर्शनशास्त्र के अध्येताओं हेतु आदर्श रहा है।

प्रो. पाण्डेय ने 1953 से 1990 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग को विभूषित किया। उक्त अवधि में प्रो. पाण्डेय ने अध्यापन के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र की विभिन्न विधाओं यथा-भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र ज्ञान मीमांसा समाज दर्शन आदि पर न केवल छात्रोपयोगी पुस्तकों का प्रणयन किया अपितु *Whither Indian Philosophy Pre Shankara Advaita Philosophy, Depth Epistemology* जैसे शोधपरक ग्रंथों की रचना भी की।

प्रो. पाण्डेय भारतीय संस्कृति व परम्परा के प्रति कटिबद्ध थे। भारतीय दर्शन विशेषरूप से शांकर वेदांत उनके प्रतिबद्ध चिंतन का क्षेत्र था। इसके साथ ही प्राचीन भारतीय मूल्यमीमांसा, नीतिशास्त्र व अर्वाचीन नीतिशास्त्र (अधिनीतिशास्त्र) संबंधी उनका ज्ञान, तत्कालीन परिदृश्य में उपलब्ध सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य में उनकी गहरी रुचि तथा तुलनात्मक दर्शन के संदर्भ में उनका आधिपत्य एवं उत्कृष्ट तार्किक कौशल, ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दु हैं जिनके आधार पर उनके दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ।

इसी आधारभूमि पर प्रो. पाण्डेय ने अपने सम्पूर्ण अकादमिक जीवन में कई प्रकार के मूलगामी सिद्धांतों की स्थापना की जिसमें-संदर्शन, गहन ज्ञानमीमांसा, प्रमाणाद्वैत व लोकायन प्रमुख हैं। इनमें लोकायनवाद या लोकात्मदर्शन की अवधारणा प्रो. पाण्डेय की शांकर वेदांत, मूल्यमीमांसा, नीतिशास्त्र की गम्भीर समझ और तत्कालीन परिदृश्य में उपलब्ध सामाजिक-राजनैतिक विमर्श व उससे उत्पन्न असंतोष के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्य विकल्प अथवा विकल्पों की प्राप्ति

के प्रयास का प्रतिफल है। वस्तुतः लोकायनवाद या लोकात्मवाद और कुछ नहीं अपितु वेदांत सम्मत समाज दर्शन है।

वस्तुतः लोकायन से तात्पर्य विचार और सत् में इस लोक की प्राकृतिक वस्तुस्थिति से पूर्णरूपेण बुद्धिसम्मत वस्तुस्थिति और वहां से भली प्रकार से स्थापित (well settled) वस्तुस्थिति की ओर अयन या गमन है।¹ यह गमन एकरेखीय न होकर, बहुसर्पिल, अग्रगामी तथा प्रतिगामी दोनों है। अपनी इस गति से लोक अपने बाह्यरूपों का परिवर्तन करता है किंतु यह सदैव अपने आंतरिक सत को बनाये रखता है जो लोक के समस्त रूपों व घटकों का आधार है। लोक के इन परिवर्तित होते रूपों या घटकों जो कि लोक के आंतरिक सत द्वारा अभिव्यक्त होते हैं- के अध्ययन का कार्य समाजशास्त्र का है- किन्तु लोक का आंतरिक सत्, इसके विविध रूपों व इसके अंतर्गत आवागमन करने वाले व्यक्तियों से इसके संबंध के अध्ययन का कार्य दर्शनशास्त्र का है।

ऐसी स्थिति में लोकायनवाद के अनुसार समाज दार्शनिक अध्ययन का उद्देश्य लोक के आंतरिक सत का अन्वेषण करते हुए इस आंतरिक सत के सापेक्ष सामाजिक परिदृश्य का निरीक्षण कर उसमें विद्यमान विसंगतियों का निराकरण करते हुए सुधार करना होता है। यहां सुधार में किसी क्रान्ति की अपेक्षा नहीं होती जो विचारक समाज दार्शनिक विवेचना के इस मर्म को नहीं समझते वे क्रान्ति के माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन की वकालत करने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन मात्र विसंगतियों का निराकरण और सुधारों का सन्निवेश है।

प्रस्तुत शोधपत्र इसी समाज दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक प्रयास है जिसमें लोकायन वाद की मूलगामी मान्यताओं के आलोक में वर्तमान परिदृश्य में लैंगिक समानता संबंधी विमर्श पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है। अर्थात् इस शोधपत्र में सर्वप्रथम प्रो. पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं के आलोक में वर्तमान परिदृश्य में लैंगिक समानता संबंधी विमर्श पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है। अर्थात् इस शोधपत्र में सर्वप्रथम प्रो. पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं का उद्घाटन करते हुए लैंगिक समानता संबंधी विमर्श का विवेचन होगा तत्पश्चात् लोकायनवादी मान्यताओं के सापेक्ष उसके मूल्यांकन का प्रयास किया जायेगा।

जहां तक प्रथम पक्ष अर्थात् लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं के उद्घाटन का प्रश्न है तो प्रो. पाण्डेय इस संदर्भ में सर्वप्रथम अद्वैतवाद की तत्वमीमांसा के आधार पर लोक की तत्वमीमांसीय स्थिति का निर्धारण करते हैं। अद्वैतवाद एकमात्र चैतन्य ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है। लोक, समाज, व्यक्ति सबमें

उसकी सत्ता विद्यमान है। सभी उस परमात्मा की अभिव्यक्तियां होती हैं। अविद्या या माया के कारण यह इन विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार मूल रूप से सबकुछ ब्रह्म ही है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि जगत को तो अद्वैतवाद में मिथ्या स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में लोकायनवाद संबंधी विमर्श का प्रारंभ कैसे होगा? प्रो. पाण्डेय के अनुसार जगत मिथ्यात्व से लोकायनवाद की अवधारणा को अद्वैतवादी आधार प्रदान करने में कोई हानि नहीं है, जगत को मिथ्या कहने का तात्पर्य जगत को सत्-असत् से विलक्षण सिद्ध करना है अद्वैतवाद जगत को असत् नहीं मानता। जगत की व्यावहारिक सत्ता है और इस रूप में अद्वैतवादी आधार पर लोकायनवादी विमर्श संभव है। उल्लेखनीय है कि अद्वैतवाद में 6 पदार्थ अनादि माने गये हैं- विशुद्ध चित्त, अविद्या, चित्त अविद्या का संबंध ईश्वर, जीव, ईश्वर-जीव का भेद। इनको अनादि मानने से अद्वैतवाद जगत व लोकव्यवहार की युक्ति-युक्त व्याख्या कर देता है।

अद्वैतवाद 'लोक' को ऐसा व्यावहारिक सत् मानता है जो पारमार्थिक सत् में निहित है। व्यवहार की कल्पना के द्वारा ही परमार्थ अपने को अभिव्यक्त करता है।² इस प्रकार यद्यपि सत्ता मात्र विशुद्ध चित्त की है तथापि वह अन्य 5 पदार्थों के कारण वह सत्ता अपने को लोक में प्रकाशित करती है। इस रूप में आत्मा या ब्रह्म या ईश्वर ही लोक रचना या लोक प्रवृत्ति का कारण है। चर्चा के क्रम में प्रो. पाण्डेय द्वारा किया गया 'लोक' व 'समाज' का भेद भी विचारणीय है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में 'लोक' व 'समाज' पर्यायवाची नहीं अपितु भिन्न है। लोक समाज का प्राकृतिक व परम्परागत पक्ष है तो वहीं समाज मानव निर्मित पक्ष है। लोक समाज की तुलना में अधिक मौलिक है। समाज निर्मित व नष्ट होते हैं और उनके निर्मित व नष्ट होने के कुछ विशिष्ट उद्देश्य होते हैं। समाज एक दूसरे के विपरीत भी होते हैं। समाज लोक में निर्मित होते हैं और इसी में नष्ट हो जाते हैं।³ समाज लोक में ही है। लोक न तो निर्मित होता है न नष्ट। 'लोक' सभी समाजों का जनक है और इस अर्थ में लोक समाज हेतु उत्तरदायी कार्यों को प्राप्त कराने हेतु सक्रिय रहता है। लोक समाज का आधारभूत तथ्यात्मक रूप है जो हमें प्रदत्त है। यह निराकार है किंतु निराकार होते हुए भी यह समाज के सभी रूपों को धारण करता है। बहुत सी शक्तियाँ लोक पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं। इन शक्तियों में कुछ दृष्ट या आनुभविक, कुछ अदृष्ट या अनानुभविक है। कुछ शक्तियाँ प्रवृत्ति का परिणाम हैं कुछ निवृत्ति का। प्रो. पाण्डेय के अनुसार जो दार्शनिक-इन शक्तियों के मात्र दृष्ट, आनुभविक या प्रवृत्ति पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं वे समाज के वास्तविक रूप को नहीं जान पाते। 'लोक' शब्द के साथ जीव, मृत्यु, मनुष्य, कर्म आदि शब्दों के संयोजन से जीवलोक, मृत्युलोक, कर्मलोक आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

इन शब्दों में प्रो. पाण्डेय कर्मलोक को महत्वपूर्ण मानते हैं।⁴ उनके अनुसार यह लोक कर्म से बंधा है। कर्म से ही समाज को गति मिलती है। हमारे कर्म कैसे होने चाहिए इस हेतु प्रो. पाण्डेय मूल्यों को परिगणित करते हुए इनके अन्तर्गत 'इष्टा' (Works for personal pity) कमजोर वर्ग के उत्थान के लिए कार्य, पूर्ता (works for the benefit of others) स्वयं के लाभ के अतिरिक्त दूसरों के लाभ के लिए कार्य, दत्त, दान, यज्ञ, तप (penances) की गणना करते हैं।⁵ प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में वैराग्य, पुरुशार्थ विशेष रूप से लोकसंग्रह प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में परममूल्य हैं।

वस्तुतः लोक अपने आप में मूल्यों का निकाय है जो समाज को निर्देशित करते हुए उसकी आधारभूमि का निर्माण करता है। यहां पर यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि हम इन मूल्यों को क्यों मानें? इसका उत्तर देते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि हम नैतिक मूल्यों को निरैतिक तथ्यों में घटित नहीं कर सकते।⁶ उन्हें मानने का कोई तथ्यात्मक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। हमें उन्हें मानना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर प्रो. पाण्डेय अद्वैतवाद के आधार पर लोक की तत्वमीमांसीय स्थिति का निर्धारण करते हुए समाज से उसका भेद स्थापित कर 'लोक' को 'ईश्वर' के लगभग समकक्ष खड़ा कर देते हैं उनकी दृष्टि में ईश्वर मात्र लोक रचना या लोकप्रवृत्ति का कारण होने से पूर्व रूप है और 'लोक' ईश्वर रचित एवं समाज की प्राकृतिक व परम्परागत स्थिति होने के कारण ईश्वर द्वारा प्रदान की गई सभी सर्वोत्कृष्ट विशिष्टताओं से युक्त है। दूसरी ओर प्रो. पाण्डेय द्वारा समानांतर रूप से लोक को कर्मलोक के रूप में व्याख्यायिक करते हुए कर्मों के अनुशासन हेतु मूल्यों का परिगणन करना 'लोक' को मूल्यों के निकाय के रूप में स्थापित करने का प्रयास लगता है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल्यों के निकाय के रूप में 'लोक' ईश्वर के लगभग समकक्ष तत्वमीमांसीय स्थिति रखता है। ऐसी स्थिति में 'लोक' की स्थापना एक आदर्श के रूप में हो जाती है। ऐसा आदर्श जिसमें मूल्य, पूर्ण और संतुप्त अवस्था में रहते हैं। लोक में विद्यमान मूल्यों की यह संतुप्त आदर्श स्थिति ही लोकात्मा है। व्यक्ति और समाज दोनों परस्पर इसकी प्राप्ति हेतु प्रयासरत हैं वहीं लोकात्मा भी उनके उत्तरदायी कार्यों को प्राप्त कराने हेतु सक्रिय रहती है।

वस्तुतः यह लोकात्मा आंतरिक अनुभूति का विषय है किंतु जब हम इसे अनुभावित स्तर पर प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तब हमसे त्रुटि हो जाती है।⁷ प्रो. पाण्डेय के अनुसार समाज की प्राथमिक अवस्था से लेकर अद्यतन समाज संचालन के संदर्भ में सिद्धान्तों की स्थापना को लेकर जो भी प्रयास हुए हैं उनमें अधिकांशतः उक्त त्रुटि के ही परिणाम हैं। उक्त त्रुटि के कारण ही प्रो. पाण्डेय

विभिन्न सामाजिक राजनैतिक विचारधाराओं पूंजीवाद, साम्यवाद, भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, मानववाद का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में पूंजीवाद, साम्यवाद, भौतिकवाद अर्थ को परम पुरुषार्थ मानने के कारण अपर्याप्त है। व्यक्तियों से भिन्न समाज के अस्तित्व के कारण व्यक्तिवाद भी स्वीकार्य नहीं साथ ही मानववाद की अनीश्वरवादिता उन्हें नहीं भाती। उनके अनुसार समाजवाद को एक तथ्यात्मक राजनैतिक प्रणाली के रूप में स्वीकारना भी उचित नहीं समाजवाद का स्वरूप मूल्यात्मक या आदर्शात्मक है। यह लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता।⁸

उपर्युक्त सामाजिक राजनैतिक विचारधाराओं के विरोध के अतिरिक्त प्रो. पाण्डेय ने विभिन्न संदर्भों में लोकायनवादी मान्यताओं को भी रेखांकित किया है। जिसके अंतर्गत राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का समर्थन व विकेन्द्रीकरण का समर्थन, राज्य को लोकात्मा का अभिकर्ता बताना, राज्य को आत्मा की शुभेच्छा का मूर्तरूप मानना, लोक रीति, लोकबुद्धि को महत्व देना, देश-भक्ति को भगवद्भक्ति से ऊपर रखना, व्यक्ति और समाज के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करना, धर्म नियंत्रित अर्थ व काम की बात करना, लोकतंत्र व लोकसंप्रभुता का समर्थन करना, अहिंसा व शांति की वकालत करना, राज्य को अनिवार्य मानना, व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्रदान करना, राज्य में संतो व विद्वानों का आदर किये जाने की बात रखना, नैतिकता आधारित न्याय की बात करते हुए समत्व को न्याय के सार के रूप में स्वीकार करना। सभी वर्गों को समान अवसर देने की बात रखते हुए निर्बल वर्ग की विशेष सहायता का समर्थन करते हुए उसे कृपा नीति कहना इत्यादि सम्मिलित हैं। उनकी यह उपर्युक्त स्थापना कहीं पर भी लोक संग्रह या सर्वगत कल्याण के पथ से विचलित नहीं हुई है। इस प्रकार प्रो. पाण्डेय लोकायनवाद के अनुप्रयोगात्मक पक्ष में सैद्धान्तिक पक्ष को पूर्ण न्यायसंगतता प्रदान करते हैं।⁹

इसके अतिरिक्त उनका यह कथन कि लोक संग्रह या सर्वगत कल्याण को स्थापित करने वाला कोई दूसरा सिद्धांत भी उनके समक्ष प्रस्तुत हो अथवा लोकायनवाद में विसंगतियों का निदर्शन करते हुए कुछ सुधार प्रस्तुत किए जाये तो वे उन्हें सहर्ष स्वीकार्य होंगे। उनके लोकायनवाद में नम्यता, उदारता, ग्रहणशीलता व सुधारवादी दृष्टिकोण का समावेश करता है जो लोकायनवाद को एक प्रासंगिक समाज दर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है।

लोकायनवाद का अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह सामाजिक व राजनैतिक दर्शन की समस्त समस्याओं का समाधान करने वाला एक सक्षम दर्शन है। उक्त आधार पर हम समकालीन सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य में विद्यमान समस्याओं के लोकायनवादी समाधान ढूंढने का प्रयास कर सकते हैं। लैंगिक

असमानता की समस्या या लैंगिक समानता का आदर्श संबंधी विमर्श एक ऐसा ही वाद बिंदु है।

एक सभ्य समाज जो अपने नागरिकों का हित चिंतन करता है वह नागरिकों के किसी वर्ग विशेष के हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में जो पिछड़ रहा है उसे विभिन्न प्रावधानों द्वारा सशक्त करने का कार्य किया जाता है। लिंग समानता का आदर्श भी इन्हीं प्रावधानों से संबंधित है जो विशेष रूप से महिलाओं की समाज में अशक्त व गौण होती स्थिति के प्रति संवेदनशील रहते हुए उन्हें सशक्त और मुख्य धारा में लाने के उपायों से संबंधित है। प्रश्न उठता है कि समाज में स्त्री की गौण स्थिति का क्या तात्पर्य है? हम जानते हैं कि समाज व्यक्तियों का समूह है, व्यक्तियों का ऐसा समूह जिसके साझा लक्ष्य हो, लक्ष्यों को प्राप्त करने के संदर्भ में पारस्परिक सहमति हो तथा अन्योन्याश्रितता का भाव हो किन्तु जब समाज में व्यक्तियों अर्थात् मानव समूह के अन्तर्गत पाये जाने वाले नर (Male) एवं मादा (Female) वर्गों में नर स्वयं को साझा लक्ष्यों का निर्धारक तथा उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के संदर्भ में अपने विचारों को ही महत्वपूर्ण मानता है तब स्त्री की स्थिति गौण हो जाती है परिणामस्वरूप अन्योन्याश्रितता भी समाप्त हो जाती है। स्त्री मात्र पुरुष के सुख का साधन होती है। स्त्री के स्वयं के सुख का मूल्य नहीं रह जाता। यही स्त्री की गौण स्थिति है। प्रश्न उठता है स्त्री की इस गौण स्थिति का कारण क्या है? वस्तुतः इस हेतु पितृसत्तात्मक सोच उत्तरदायी है। जैविक रूप से भिन्न स्त्री की विशिष्टताओं (योनि, गर्भाशय, प्रजनन, स्तनपान) को पुरुष की विशिष्टताओं की तुलना में तुच्छ व हीन स्वीकार किया जाता है। यही से पुरुष श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न होता है। इस श्रेष्ठता का समाज व धर्म द्वारा सुदृढीकरण होता है। इसी धर्म में स्त्रियों को कर्मकांड से वंचित किया जाना, पुरुष को वंशवाहक के रूप में स्वीकार करना, अरस्तू द्वारा Female is an incomplete male कहना अथवा यह कहना कि Thanks to God for not making me as a female उपर्युक्त वर्णित पुरुष श्रेष्ठता के सुदृढीकरण के उदाहरण है। इसे ही पुरुष श्रेष्ठता का समाजीकरण कहते हैं।

इस समाजीकरण के अंतर्गत समाज में हीन या तुच्छ समझे जाने वाले कार्यों को स्त्रियोचित कर्म तथा श्रेष्ठ व उत्कृष्ट कार्यों को पुरुषोचित कर्म कहा जाता है जन्म से ही स्त्री के साथ ऐसे गुणों को आरोपित किया जाता है। उनकी विशिष्ट वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन के ढंग भी समाज द्वारा निर्धारित किये जाते हैं जैसे- लंबे बाल, श्रंगार, रजस्वला स्त्री के विशिष्ट जीवन व्यवहार, खेल-खिलौनों का निर्धारण आदि। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्त्री की भूमिका व स्वरूप समाज में किस

प्रकार निर्धारित होता है। सिमोन-द-बोउवार ने इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए यह कहा था कि स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती है।¹⁰

इन्हीं गुणों व कर्मों के आधार पर समाज में स्त्री व पुरुष की भूमिका निर्धारित कर दी जाती है। जहां आर्थिक स्तर पर घरेलू कार्य स्त्री को सौंपे जाते हैं और बाजार के कार्य पुरुषों को। पुरुषों के श्रम को उत्पादक श्रम व स्त्रियों के श्रम को अनुत्पादक श्रम की श्रेणी में रखा जाता है। वही राजनैतिक स्तर पर स्त्रियों को शासन व सत्ता में भागीदारी से वंचित किया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी स्तरों पर पितृसत्तात्मक सोच के परिणाम स्वरूप स्त्रियों की दशाहीन गौण व अशक्त हो जाती है। सभ्य समाज इसी परिस्थिति के प्रति सचेत रहता है। उसे पितृसत्तात्मक सोच और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न लैंगिक भेदभाव उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में लैंगिक समानता का आदर्श आविर्भूत होता है। लैंगिक समानता के आदर्श को समझने हेतु हमें समानता के मूल्य पर भी दृष्टिपात करना होगा। असमानता एक तथ्य है, वस्तुस्थिति है, समानता एक मांग है।

ऐतिहासिक दृष्टि से असमानता व समानता दोनों का समर्थन करने वाले संदर्भ उपलब्ध हैं। प्राचीन ग्रीककाल में अरस्तू द्वारा दास प्रथा को उचित ठहराना,¹¹ मध्य युग में समाज के पुरोहित सामंत व जनसामान्य के मध्य समाज का विभाजन व आधुनिक युग में कार्लाइल, बर्क, कोलारिज, बेंथम जैसे विचारकों द्वारा असमानता का कट्टर समर्थन तथा फासीवादियों द्वारा असमानता को वांछनीय मानना असमानता के समर्थन के कुछ प्रमुख संदर्भ हैं।¹² इन विचारकों का मानना है कि असमानता प्राकृतिक है तथा समानता का नियम स्वतंत्रता व न्याय का अतिक्रमण करता है। इन विचारकों द्वारा असमानता का समर्थन करने के मूल कारणों की गवेषणा करने पर यह ज्ञात होता है कि ये सभी विचारक विषमताओं से लाभ प्राप्त करने वाले वर्ग से थे साथ ही साथ वे इस लाभ को किसी अन्य वर्ग को स्थानांतरित नहीं करना चाहते थे। किंतु इन कारणों से समानता जैसे मूल्य का विरोध करना उचित नहीं। इसी के सापेक्ष ग्रीक काल में स्टोइक ने समानता का समर्थन व दासप्रथा का विरोध किया। आधुनिक काल में हाब्स, लाक, रूसो जैसे विचारक समानता का समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिकी व फ्रांसीसी क्रान्ति एवं मानवाधिकारों के घोषणा पत्र में भी समानता का नारा दिया गया।

समानता के समर्थक समानता की स्थापना को औचित्य प्रदान करने हेतु कहते हैं कि विवेक व अनुभूति का गुण विभिन्न क्षमताओं व योग्यताओं की विषमताओं के बाद भी सबसे समान रूप से पाया जाता है। विभिन्न विषमताओं के बाद भी

योग्यता और इच्छाओं को पूरा कर पाने की अपेक्षा सबमें समान रूप से पायी जाती है।

मनुष्य को प्रत्येक कर्म को स्वयं को साध्य मानकर करना चाहिए प्रत्येक व्यक्ति साध्य है उसे दूसरे को साधन नहीं बनाना चाहिए। कांट (नैतिक दृष्टि) धार्मिक दृष्टि से ईसाईयत के अनुसार ईश्वर पिता व सभी मनुष्य उसकी संतान है। अद्वैतवाद भी समानता पर बल देता है। प्राकृतिक आधार पर विभिन्न विषमताओं के होते हुए भी रक्त समूह, समान बौद्धिक शारीरिक व मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर समानता का समर्थन किया जा सकता है।

इस प्रकार काल के प्रवाह में विषमता और समानता दोनों के समर्थक उपलब्ध है विषमता के समर्थक लाभ प्राप्तकर्ता वर्ग हैं तो वही समानता के समर्थक आधुनिक व्यक्तिवादी, मानववादी विचारधारा से ओतप्रोत तथा बुद्धि व विवेक को महत्व प्रदान करने वाले हैं। ऐसी स्थिति में विषमता व समता का द्वन्द्व गंभीर है किन्तु सभ्य व प्रगतिशील समाज समता जैसे मूल्यों के प्रति आस्थावान व समानता की स्थापना हेतु कटिबद्ध रहता है।

प्रश्न यह है कि विषमता यदि तथ्य है और समानता एक मांग (मूल्य) है तो इस मूल्य (समानता) की स्थापना कैसे हो? इस संदर्भ में हम प्रसिद्ध विचारक रूसों को ले सकते हैं रूसों ने असमानता को वर्गीकृत करते हुए उसे दो भागों में विभाजित किया-

1- प्राकृतिक असमानता, 2- कृत्रिम असमानता

प्राकृतिक असमानता के अंतर्गत रूसों ने जैविक, बौद्धिक, शारीरिक क्षमता, कद, रंग, सौंदर्य आदि से संबंधित विषमताओं को परिगणित किया वहीं कृत्रिम असमानताओं के अंतर्गत जाति, धर्म, अमीरी, गरीबी, लैंगिक आदि विषमताओं को रखा। रूसों के अनुसार हम प्राकृतिक असमानताओं को दूर नहीं कर सकते किन्तु कृत्रिम असमानताओं को दूर किया जा सकता है। कृत्रिम असमानताएं परंपरा प्रदत्त असमानताएं हैं हम इन्हें दूर कर सकते हैं।¹³ इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जब हम समानता की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य परंपरा प्रदत्त असमानता को दूर किया जा सकता है।

लैंगिक असमानता भी ऐसी ही असमानता है। अब प्रश्न उठता है कि लैंगिक असमानता को कैसे दूर किया जा सकता है? इसका उत्तर है- सामाजिक परिवर्तन के द्वारा ऐसा परिवर्तन जिसमें एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की भांति गौरव, पद, विशेषाधिकार व अवसर प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में समानता समाज में रहने वाले

प्रत्येक व्यक्ति को अपना सर्वोत्तम करने की समान स्थिति की गारंटी देता है। इस प्रकार प्रत्येक के अधिकार के विशय में बराबर के आधार पर विचार होना चाहिए। इस उत्थान हेतु संरक्षात्मक भेदभाव (युक्तियुक्त भेदभाव) किये जा सकते हैं।

समानता प्रदान करने के इसी दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप लैंगिक समानता के आदर्श की व्यावहारिक स्तर पर प्राप्ति के प्रयास किये जा रहे हैं किंतु इन उपायों के बावजूद भी लैंगिक समानता व्यवहार में आशानुरूप फलित होती नहीं दिखती। इसका क्या कारण है? प्रो. पाण्डेय के लोकायनवादी मापदण्ड पर इस वस्तुस्थिति के कारण की गवेषणा करने पर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः इसका कारण भौतिक धरातल पर किये जाने वाले प्रयासों का आध्यात्मिक धरातल में सामंजस्य न होना है। पुनः प्रो. संगम लाल पाण्डेय के लोकायनवाद की ओर चलें तो यह कहा जा सकता है कि प्रयासों का लोकात्म से वास्तविक सामंजस्य न होना लैंगिक समानता के आदर्श की व्यावहारिक विफलता का कारण है। कैसे?

जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया चुका है कि प्रो. पाण्डेय के लोकायनवाद में 'लोक' मूल्यों का एक निकाय है यह निकाय समाज के लिए एक नियामक है। इसी के सापेक्ष समाज के पथ संचालन हेतु रीतियों का निर्माण होने पर समाज में व्यवस्थित व सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था की स्थापना होती है। प्रो. पाण्डेय इन मूल्यों के निकाय के अंतर्गत लोकसंग्रह, पुरुषार्थ, दान-दत्त, तप, यज्ञ, इष्टा, पूर्ता वैराग्य आदि मूल्यों को परिगणित करते हैं। लोकसंग्रह का तात्पर्य सर्वगत कल्याण से है इस हेतु अर्थ व काम पुरुषार्थ को धर्म से नियंत्रित होना चाहिए।¹⁴ दान का स्वरूप फलाकांक्षा से रहित व सात्विक हो, मन बिल्कुल एकाग्र हो शुद्ध भाव जिसमें अपने स्वार्थ अभिमान का त्याग व दूसरे का हित हो, ऐसा तप हो,¹⁵ यज्ञ का तात्पर्य-वितरण की समान व्यवस्था से है।¹⁶ इष्टा का अर्थ अप्राप्तस्य प्राप्तिः व पूर्ता का तात्पर्य प्राप्त का संरक्षण है।¹⁷ वैराग्य-राग का अभाव है।¹⁸

हमें लैंगिक समानता रूपी आदर्श की स्थापना के संदर्भ में यह विचार करना होगा कि समाज में उक्त आदर्श की स्थापना हेतु किए जाने वाले प्रयास उपर्युक्त वर्णित मूल्यों से संगति रखते हैं या नहीं। इस संदर्भ में निम्नांकित प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाते हैं। क्या लैंगिक समानता की स्थापना के उपक्रम में पुरुषोचित मानसिकता अपनी वर्तमान प्रभावी स्थिति के प्रति राग से उबर सकी है?

लैंगिक समानता की स्थापना के क्रम में किये जाने वाले दान (Charity) क्या फलाकांक्षा से रहित व सात्विक है?

क्या हमारे अंदर लिंग विशेष के प्रति इष्टा का भाव है।

क्या हम उसके अप्राप्त को प्राप्त कराने हेतु सद्भाव से युक्त है?

क्या हम अपने तथाकथित लैंगिक समकक्ष के लाभ के लिए संरक्षा व लाभ (पूर्ता) का भाव रखते हैं?

लैंगिक न्याय करते समय क्या यज्ञ की वास्तविक भावना समान वितरण का भाव हमारे अंदर रहता है?

लैंगिक समानता के संदर्भ में विचार करते समय क्या हम ऐसे शुद्ध भावों से युक्त तप में लीन रहते हैं जिसमें अपने स्वार्थ अभिमान का त्याग व दूसरे का हित हो? लैंगिक समानता के आदर्शों के संदर्भ में किये जाने वाले प्रयासों की इन उपर्युक्त प्रश्नों के परितः गवेषणा करने पर नकारात्मक उत्तर ही प्राप्त होते हैं। यदि इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक है तो हमारे समस्त प्रयास लोकात्मा से असंगत व त्रुटियुक्त है इनके माध्यम से लोकसंग्रह कैसे संभव है?

वस्तुतः लोकायनवादी दृष्टि में व्यावहारिक उपागमों के साथ-साथ नेपथ्य में विद्यमान भाव भी महत्वपूर्ण है। यदि अभिप्राय सद् नहीं है तो कर्म उचित प्रतीत होते हुए भी उचित नहीं होता। अतः यदि हमें समाज में वास्तविक अर्थों में लैंगिक समानता के आदर्श को प्राप्त करना है तो इमें इस संदर्भ में किये जाने वाले समस्त प्रयासों के संदर्भ परिशुद्ध भाव व अभिप्राय के साथ अनुलग्नता का प्रदर्शन करना होगा। यही लोकायनवादी दृष्टि है और जो प्रो. पाण्डेय की ओर से लैंगिक असमानता की समस्या अथवा लैंगिक समानता के विमर्श का एक अध्यात्मवादी समाधान है।

संदर्भ

1. Indian Philosophical Quaterly, Vol-7 No.-1, 1979, Page No.-145
2. पाण्डेय, संगमलाल, समाजदर्शन की प्रणाली, पृष्ठ-155, दर्शन पीठ इलाहाबाद, 1999
3. Indian Philosophical Quaterly, Vol-7 No.-1, 1979, Page No.-148
4. वही पृष्ठ-148
5. वही पृष्ठ -149
6. वही पृष्ठ -143
7. प्रो. पाण्डेय इसे समाजशास्त्रीय अध्याय कहते हैं, वही पृष्ठ -147
8. पाण्डेय, संगमलाल, समाजदर्शन की प्रणाली, पृष्ठ-183, दर्शन पीठ इलाहाबाद, 1999
9. वही पृष्ठ -141
10. Simon-de-Bcauvoir, The second sex, New translation by constance borde and sheila malovany chevallier (NY: Alfred A. Knopf, 2010) Page-283

11. Politics, Book-1, Aristotle, Translated by Benjamin Jowett, Batoche Books, Kitchener 1999, Part-V-Page 9
12. दृष्टव्य- Thomas Carlyle, The French Revolution, Wilco publishing House, India, 2008.
Edmund Burke, Reflections on the Revolution in France, Pub.-James Dodsley, Pall Mall, London 1790.
Colmer J. Coleridge, Critic of society, oxford university press, 1959.
13. J.J. Rousseau, Discourse on the Origin of Inequality, Translated by G.D.H. Cole, ISNETH zurich, 2008, Page-11
14. यतो धर्मस्ततो जयः। महाभारत, भीष्म पर्व, 21/11
15. मनः प्रसाद मौनमात्मविनिग्रह भावसंशुद्धिरित्येतपो मानसमुच्यते, भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक-16
दातव्यमिति यद्दानं दीयते नुपकारिणे
देश काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक-20
16. भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-9
17. मुण्डकोपनिषद 1/2/10
18. भगवद्गीता, अध्याय-6, श्लोक-35

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र
हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, नैनी, प्रयागराज
Email: philosophy.amit@gmail.com

भारतीय सांस्कृतिक समरसता में लोकगीतों का प्रादुर्भाव

स्मृति त्रिपाठी

सारांश

लोकगीत किसी रचनाकार की व्यक्तिगत कृति मात्र नहीं होते, बल्कि वे समूचे समाज की सामूहिक चेतना और साझा अनुभवों की अभिव्यक्ति होते हैं। क्षेत्रीय स्तर पर भाषा, बोली, पहनावा और खान-पान में भिन्नता होने के बावजूद, इन गीतों के भीतर प्रवाहित होने वाली सांस्कृतिक अंतर्धारा एक समान रहती है। यह लेख इस तथ्य का अन्वेषण करता है कि कैसे कश्मीर के रौफ़ से लेकर कन्याकुमारी के विल्लुपाट्टु तक और गुजरात के गरबा से लेकर असम के बिहू तक, एक ही भारतीय आत्मा प्रतिध्वनित होती है।

भारत एक ऐसा देश है जहाँ 'कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पर बानी' वाली कहावत चरितार्थ होती है।¹ यहाँ की भौगोलिक विशालता के साथ-साथ भाषाई और सांस्कृतिक विविधता भी अत्यंत सघन है। लोकगीत उस मिट्टी की सुगंध की तरह हैं जो बिना किसी लिखित व्याकरण के, मौखिक परंपरा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहते हैं। इन गीतों में केवल मनोरंजन के स्वर ही नहीं बल्कि इतिहास का वह सत्य भी सुरक्षित है जो अक्सर मुख्यधारा की इतिहास पुस्तकों में दर्ज होने से छूट जाता है।

भारतीय सांस्कृतिक पहचान विश्व के अन्य देशों से मौलिक रूप से भिन्न है क्योंकि यहाँ एकता का अर्थ एकरूपता नहीं बल्कि समरसता है। हमारी संस्कृति एक ऐसे विशाल वटवृक्ष के समान है जिसकी शाखाएं भले ही अलग-अलग दिशाओं में फैली हों, लेकिन उनकी जड़ें एक ही मिट्टी में गहराई तक धंसी हुई हैं। सदियों से हमारे लोकगीतों ने ही इन जड़ों को सींचने और सहेजने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

मुख्य शब्द: सांस्कृतिक, शौर्य, पारिवारिक, प्रकृति, अध्यात्म. समरसता।

उत्तर भारत का संस्कार, शौर्य गाथाएं, भक्ति और ऋतुओं का संगम

उत्तर भारत में लोकगीतों की एक समृद्ध परंपरा है। अवध का सोहर, ब्रज की होली, और बुंदेलखंड का आल्हा—ये सभी गीत अलग-अलग मनोभावों को दर्शाते हैं। उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति ने यहाँ के लोकगीतों को संघर्ष और भक्ति का अनूठा मिश्रण प्रदान किया है। बुंदेलखंड का 'आल्हा' केवल एक वीरगाथा नहीं है, बल्कि यह उत्तर भारत के शौर्य का प्रतीक और राष्ट्रीय एकता का स्वर है। जगनिक द्वारा रचित 'परमाल रासो' के अंशों को जब वर्षा ऋतु में ऊँचे स्वर में गाया जाता है, तो वह केवल एक क्षेत्र विशेष की गाथा नहीं रह जाती। आल्हा के गीतों में मृत्यु को 'ब्याह' (शादी) के समान उत्सव माना गया है। यह दर्शन कि "मातृभूमि के लिए प्राण देना मोक्ष है", पूरे भारत के क्षत्रिय और वीर समाज की साझा विरासत है। यही भाव हमें महाराष्ट्र के 'पोवाडा' में भी मिलता है। आल्हा खंड वीर रस का वह महाकाव्य है जो वर्षा ऋतु में गाया जाता है। इसकी भाषा बुंदेली है, लेकिन इसका संदेश 'राष्ट्र रक्षा' और 'शौर्य' है, जो पूरे भारत के क्षत्रिय मूल्यों को जोड़ता है।²

पहाड़ी लोकगीत झुमैलो और न्यौली उत्तराखंड और हिमाचल की गीत प्रकृति के साथ मनुष्य के गहरे संबंध को दर्शाते हैं। उत्तर प्रदेश के 'सोहर' जन्मोत्सव के गीत और 'कजरी' सावन के गीत में जो पारिवारिक संरचना दिखती है, वह संपूर्ण भारत की नींव है। राम और कृष्ण के जन्म पर गाए जाने वाले सोहर केवल अयोध्या या मथुरा तक सीमित नहीं हैं। इनके भाव और धुनें बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में भी समान रूप से गूँजती हैं। यह दर्शाता है कि हमारे आराध्य और उनके प्रति हमारा प्रेम भौगोलिक सीमाओं को नहीं मानता। सरहुल झारखंड और बिहार के जनजातीय लोकगीत साल के वृक्ष और धरती के विवाह का उत्सव मनाते हैं।³

ऋतु-चक्र और कृषि: एक अखंड भारतीय कैलेंडर

भारत की भौगोलिक विविधता के बावजूद यहाँ का 'कृषि-मानस' एक जैसा है। ऋतुओं का स्वागत करने का ढंग पूरी भारतीय पहचान को एक सूत्र में पिरोता है।

सावन और वर्षा के गीत

जब मेघ गर्जना होती है, तो विरहिणी नायिका का विलाप और किसान का उल्लास कन्याकुमारी से कश्मीर तक एक जैसी संवेदनाएं पैदा करता है। उत्तर भारत की 'कजरी', राजस्थान की 'तीज', और दक्षिण भारत के वर्षा-गीत—सभी में वर्षा का स्वागत 'जीवन के पुनर्जन्म' के रूप में किया जाता है।

वसंत और फसल की कटाई

यह मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने का एक लोक-माध्यम रहा है। सांस्कृतिक एकता का सूत्र दक्षिण भारत के 'कोट्टुपाट्टु' कटाई के गीत और उत्तर के 'चैती' में भले ही राग अलग हों, लेकिन धरती के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का समय और भाव लगभग एक समान है। नदी वंदना: गंगा, यमुना, कावेरी और नर्मदा के लिए गाए जाने वाले गीत इन नदियों को केवल जल का स्रोत नहीं, बल्कि 'माता' मानते हैं। यह 'नदी-संस्कृति' पूरे भारत को एक पवित्र भूगोल में बांधती है। पंजाब की 'लोहड़ी', असम का 'बिहू', तमिलनाडु का 'पोंगल' और उत्तर प्रदेश-बिहार की 'मकर संक्रांति'। नाम अलग हैं, पकवान अलग हैं, बोलियाँ अलग हैं, लेकिन सूर्य के उत्तरायण होने की खुशी और धरती माता के प्रति कृतज्ञता का भाव शत-प्रतिशत एक है। यह 'जैव-सांस्कृतिक एकता' का सबसे सशक्त प्रमाण है। भारतीय लोकगीतों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे केवल मनोरंजन नहीं बल्कि 'कृषि और स्वास्थ्य का कैलेंडर' भी हैं। फागुन का उल्लास होरी और धमार होली के गीतों में केवल रंग नहीं, बल्कि शीत ऋतु की समाप्ति और ग्रीष्म के आगमन का वैज्ञानिक स्वागत है। उत्तर भारत की 'फगुआ' और राजस्थान की 'चंग' गायकी में जो ऊर्जा है, वह थके हुए कृषक समाज में नए संचार का प्रतीक है। सावन की कजरी और हिंडोला वर्षा ऋतु में जब कृषि कार्य का बोझ कम होता है, तब 'कजरी' के माध्यम से विरह और प्रकृति का गायन होता है।

क्षत्रिय शौर्य गाथाओं का सामाजिक प्रभाव

क्षत्रिय लोकगीतों ने भारत की रक्षात्मक पंक्ति को मानसिक रूप से सुदृढ़ किया है। पाबूजी की पड़ राजस्थान में ऊँटों के देवता और गौ-रक्षक पाबूजी की गाथा रावणहत्था पर गाई जाती है। यह गीत वीरता के साथ-साथ पशु-प्रेम और वचन-पालन की शिक्षा देता है। 'मराठा पोवाडा' शिवाजी महाराज की वीरता का वर्णन करने वाले इन गीतों ने मुगलों के विरुद्ध 'गुरिल्ला युद्ध' के लिए जनमानस को तैयार किया था। इन सभी वीरगाथाओं में 'शत्रु' केवल व्यक्ति नहीं, बल्कि 'अधर्म' है। क्षत्रिय लोकगीतों का मूल मंत्र 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' की लोक-व्याख्या ही है।

समाज का दर्पण, सांस्कृतिक सेतु, स्वतंत्रता संग्राम और लोक-चेतना

भारतीय लोकगीतों की विविधता ने केवल उत्सवों को ही नहीं सजाया, बल्कि देश के राजनीतिक और सामाजिक जागरण में भी अभूतपूर्व भूमिका निभाई। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से लेकर 1947 तक, लोकगीतों ने 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' को जीवित रखा।

वीरगाथाओं का पुनरुत्थान

जब ब्रिटिश शासन ने भारतीय इतिहास को दबाने की कोशिश की, तब गाँवों के चौपालों पर गाए जाने वाले लोकगीतों ने इतिहास को जीवित रखा। उत्तर प्रदेश में 'कुंवर सिंह' की वीरता के गीत और पंजाब में 'दुल्ला भट्टी' की गाथाओं ने युवाओं में वही जोश भरा जो महाराष्ट्र में शिवाजी महाराज के 'पोवाडों' ने भरा था। यहाँ विविधता केवल भाषा की थी, लेकिन शत्रु एक था और मातृभूमि की संकल्पना भी एक थी। यह 'क्षेत्रीयता' से 'राष्ट्रीयता' की ओर संक्रमण का काल था।

गांधीवादी मूल्यों का लोक-प्रसार

महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के संदेश को आम जनमानस तक पहुँचाने का काम 'लोक भजनों' और 'प्रभात फेरियों' ने किया। गुजरात के 'नरसी मेहता' का भजन "वैष्णव जन तो तेने कहिये" पूरे भारत का अनौपचारिक राष्ट्रगान बन गया। यह दर्शाता है कि एक क्षेत्रीय भाषा गुजराती का गीत कैसे अखिल भारतीय नैतिक संहिता बन सकता।

संघर्ष और उत्सव मरुभूमि और पश्चिम भारत का संगीत

राजस्थान और गुजरात का क्षेत्र अपनी रंगीनी और जीवंतता के लिए जाना जाता है। राजस्थान के मांड, विरह और गोरबंद गीत विरह और श्रृंगार का अनूठा उदाहरण हैं। राजस्थान के 'मांड' गायन और 'पणिहारी' गीतों में पानी की महत्ता और मरुस्थल के कठिन जीवन का चित्रण है। लेकिन इन गीतों में जो 'अतिथि देवो भव' का भाव है, वह भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। 'केसरिया बालम, पधारो म्हारे देस' केवल राजस्थान का निमंत्रण नहीं, बल्कि यह पूरे भारत की सहिष्णुता और स्वागत करने की प्रवृत्ति का परिचायक है। खेजड़ी पूजा राजस्थान के बिश्नोई समाज के लोकगीत वृक्षों की रक्षा के लिए प्राण देने की प्रेरणा देते हैं। गुजरात का 'गरबा' मूलतः 'गर्भ-दीप' की पूजा है, जो सृजन और शक्ति का प्रतीक है। आज गरबा विश्वव्यापी हो चुका है, लेकिन इसके गीतों में आज भी देवी दुर्गा और कृष्ण की लीलाओं का वर्णन होता है। यह दक्षिण भारत की 'कोलाट्टम' परंपरा से अद्भुत साम्यता रखता है, जो सिद्ध करता है कि अभिव्यक्ति के ढंग अलग हो सकते हैं, पर भक्ति का केंद्र एक ही है। राजस्थान और गुजरात के लोकगीतों में मरुस्थल की तपिश और उत्सवों की शीतलता दोनों मिलती है। गरबा और रास: गुजरात का गरबा और 'गरबा' की गूँज अब केवल एक प्रादेशिक नृत्य-गीत नहीं रह गया है, बल्कि यह 'शक्ति' की उपासना का अखिल भारतीय प्रतीक बन चुका है।

पूर्वोत्तर भारत प्रकृति पूजा, आध्यात्म और सामूहिकता जनजातीय सामंजस्य।

पूर्वोत्तर भारतके लोकगीत अक्सर शेष भारत से अलग समझे जाते हैं, परंतु गहराई से देखने पर यहाँ 'प्रकृति पूजा' का वही भाव मिलता है जो वेदों में वर्णित है। असम का 'बिहू' और फसल उत्सव और बंगाल का 'बाउल' संगीतका मानवता ही ईश्वर है।

असम के बिहू गीत कृषि संस्कृति के परिचायक हैं। बिहू: यह कृषि उत्सव का गीत है, जो यह दर्शाता है कि भारत मूलतः एक कृषि प्रधान राष्ट्र है, जहाँ धरती माता की पूजा ही सर्वोपरि है। जब किसान अपनी फसल कटने की खुशी में गाता है, तो उसकी भावना पंजाब के 'भांगड़ा' या दक्षिण के 'पोंगल' गीतों से अलग नहीं होती। यह 'अन्न' को ब्रह्म मानने की भारतीय सोच का ही विस्तार है। बंगाल के बाउल गायक जैसे लालन फकीर ने लोकगीतों के माध्यम से वह संदेश दिया जो उपनिषदों का सार है— "मनुष्य के भीतर ही ईश्वर का वास है।" बाउल गायक 'मनुष्य' को ही ईश्वर का मंदिर मानते हैं। यह सूफी और भक्ति परंपरा का वह संगम है जो पूरे भारत को मानवतावाद के सूत्र में पिरोता है। बाउल गीतों में हिंदू-मुस्लिम एकता और जाति-पाति के भेदभाव का विरोध मिलता है, जो कबीर की साखियों जैसा ही प्रभावशाली है। बंगाल का बाउल गान और असम का बिहू भारतीय एकता के जीवंत प्रमाण हैं।

दक्षिण भारत: परंपरा की निरंतरता लोक और शास्त्र का समन्वय

दक्षिण भारत के लोकगीत अक्सर मंदिर संस्कृति और कृषि से जुड़े होते हैं।

तमिलनाडु और केरल के लोकगीत

केरल का 'वंचिपाट्टु' (नौका गीत) और तमिलनाडु का 'विल्लुपाट्टु' (धनुष गीत) रामायण और महाभारत की कथाओं को लोक-लय में सुनाते हैं। यह इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि भारत को जोड़ने वाला सबसे मजबूत सूत्र हमारे 'महाकाव्य' हैं। उत्तर भारत का अनपढ़ ग्रामीण और दक्षिण भारत का मछुआरा, दोनों एक ही राम और कृष्ण की गाथाओं से संस्कार पाते हैं।

अक्सर यह माना जाता है कि दक्षिण भारत केवल शास्त्रीय संगीत का केंद्र है, लेकिन वहाँ के लोकगीत जैसे पडुना (कर्नाटक) या विल्लुपाट्टु (तमिलनाडु) अद्भुत हैं। दक्षिण के लोकगीतों में रामायण और महाभारत के प्रसंग उसी श्रद्धा के साथ गाए जाते हैं जैसे उत्तर भारत में। यह प्रमाणित करता है कि हमारी पौराणिक चेतना उत्तर से दक्षिण तक एक एकता का सूत्र ही है। भारत की सांस्कृतिक एकता को उत्तर और दक्षिण की विभिन्न कला विधाओं के बीच के गहरे संबंधों से समझा

जा सकता है। जहाँ उत्तर भारत की रामलीला और नौटंकी अपनी कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं, वहीं दक्षिण में कर्नाटक का यक्षगान भी उन्हीं रामायण और महाभारत के मूल आधारों पर टिका है, जो हमारी साझा विरासत को दर्शाता है। इसी प्रकार, प्रकृति से जुड़ाव भी अटूट है; उत्तर में कजरी यूपी और बिहार और दक्षिण में ओणम पाट्टु (केरल) दोनों ही वर्षा ऋतु के आगमन और प्रकृति की हरियाली का उत्सव मनाते हैं। वीर गाथाओं को जीवंत रखने की परंपरा भी दोनों क्षेत्रों में समान है, जहाँ राजस्थान के पँवाड़ा और तमिलनाडु के विल्लुपाट्टु संगीत के माध्यम से शौर्य की कहानियाँ सुनाते हैं। अंततः, भक्ति की पराकाष्ठा भजन-कीर्तन और दक्षिण के नाम संकीर्तन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जो सामूहिक गायन की परंपरा के माध्यम से पूरे देश को एक सूत्र में पिरोते हैं।⁴

गोवा का 'मांडो'

गोवा के लोकगीत भारतीय और पुर्तगाली संस्कृतियों का मिश्रण हैं, लेकिन उनकी आत्मा भारतीय ही है। मांडो गीतों में प्रेम की जो अभिव्यक्ति है, वह भारतीय 'शृंगार रस' की परंपरा का ही आधुनिक रूप है। यह विविधता में एकता का एक अनूठा उदाहरण है जहाँ विदेशी प्रभाव के बावजूद भारतीय 'लोक' अपनी पहचान बनाए रखता है। भारतीय लोकगीत पर्यावरण संरक्षण के सबसे पुराने माध्यम हैं।

ओड़िशा का 'संभलपुरी' और 'डालखाई'

ओड़िशा के लोकगीतों में जगन्नाथ संस्कृति का प्रभाव है। यहाँ के 'डालखाई' गीत प्रकृति और प्रेम का उत्सव मनाते हैं। इनमें प्रयुक्त होने वाले शब्द और ग्रामीण बिम्ब झारखंड और छत्तीसगढ़ के लोकगीतों से मिलते-जुलते हैं, जो मध्य भारत की एक 'सांस्कृतिक निरंतरता' को दर्शाते हैं।⁵

सांस्कृतिक एकता के अंतर्निहित सूत्र नैतिकता, परिवार, राष्ट्र और अध्यात्म

विविधता के इस विशाल सागर में एकता के निम्नलिखित पाँच सूत्र स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं:

पारिवारिक मूल्यों की प्रधानता: विवाह, गौना, और विदाई के गीत पूरे भारत में एक जैसी करुणा और प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं। बेटी की विदाई का दुख हिमाचल की 'झूरी' में भी वही है जो केरल के लोकगीतों में।

प्रकृति के प्रति कृतज्ञता: नदियाँ, पर्वत, और सूर्य - ये पूरे भारत के लोकगीतों के नायक हैं। छठ के गीतों में सूर्य की पूजा और दक्षिण में पोंगल पर प्रकृति का आभार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

आध्यात्मिक चेतना: लोकगीत ईश्वर को आकाश में नहीं, बल्कि अपने साथ खेत में काम करते हुए देखते हैं। यह 'लोक-अध्यात्म' ही भारत की असली ताकत है।

शौर्य और बलिदान: देश और धर्म की रक्षा के लिए प्राण न्योछावर करने की गाथाएं हर राज्य की अपनी हैं, पर उनका उद्देश्य 'राष्ट्र-रक्षा' ही रहा है।

सामूहिकता: लोकगीत अकेले नहीं, समूह में गाए जाते हैं। यह 'वसुधैव कुटुंबकम' की लघु इकाई है।

भारतीय संस्कृति में एकता के आधार को विभिन्न सामाजिक और आध्यात्मिक पहलुओं के माध्यम से गहराई से समझा जा सकता है। हमारे पारिवारिक मूल्य इसका एक सशक्त उदाहरण हैं, जहाँ विवाह, जन्म और विदाई के अवसर पर गाए जाने वाले गीत पूरे भारत में एक जैसी मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार, अध्यात्म की धारा कबीर, मीरा और तुकाराम जैसे संतों के पदों के माध्यम से लोकगीतों के रूप में पूरे देश में समान रूप से गूँजती है। साझा संस्कृति का एक सुंदर रूप प्रकृति प्रेम में भी दिखाई देता है; चाहे दक्षिण में केरल का 'ओणम' हो या उत्तर में पंजाब की 'लोहड़ी', ये सभी उत्सव प्रकृति के प्रति आभार व्यक्त करने की हमारी सामूहिक परंपरा को दर्शाते हैं। अंततः, हमारी राष्ट्रीय चेतना ने भी एकता को सुदृढ़ किया है, विशेषकर स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जब लोकगीतों ने पूरे देश को 'वंदे मातरम' के एक साझा भाव और संकल्प से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य किया था।

लोकवाद्यों की भूमिका तकनीकी एवं सांस्कृतिक विश्लेषण

भारतीय लोकगीतों की विविधता उनके वाद्यों में भी दिखती है। पंजाब का 'तुंबी', राजस्थान का 'रावणहत्था', बंगाल का 'एकतारा' और दक्षिण का 'उदुक्कू'— इन सबके सुर अलग हैं, लेकिन इनकी ताल 'भारतीय लय' पर आधारित है। ये वाद्ययंत्र केवल ध्वनि पैदा नहीं करते, बल्कि ये उस क्षेत्र की आत्मा की पुकार हैं जो अंततः भारतीय संगीत के महासागर में जाकर मिलती है। रक्षण करना वास्तव में भारत की अखंडता को सुरक्षित करना है। विविधता का अर्थ अलगाव नहीं है। जिस प्रकार एक राग में कई स्वर होते हैं, लेकिन वे मिलकर एक मधुर संगीत पैदा करते हैं, उसी प्रकार भारत के विभिन्न आंचलिक गीत मिलकर 'भारतीयता' का राग अलापते हैं। कश्मीर का 'रौफ़' और केरल का 'वंचिपाट्टु' भले ही अलग भाषा में हों, लेकिन उनके लय और ताल में छिपी 'भारतीय धड़कन' एक ही है। भारतीय लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी समावेशी प्रकृति है। यहाँ धर्म की दीवारें अक्सर धुंधली पड़ जाती हैं। भारतीय संगीत में वाद्य यंत्र केवल मनोरंजन के साधन

नहीं, बल्कि गहरे सांस्कृतिक संदेश के संवाहक हैं। ढोल और नगाड़ा: यह पूरे भारत में विजय और सामूहिकता का प्रतीक है, जो हर लोक उत्सव में प्राण फूँक देता है। बाँसुरी, मुख्य रूप से उत्तर और पूर्व भारत में प्रचलित यह वाद्य कृष्ण की विरासत और शांति का प्रतीक माना जाता है। एकतारा, बंगाल और पंजाब के क्षेत्रों में यह वैराग्य और ईश्वर की एकता का स्वर गूँजाता है। घटम (मटका), दक्षिण भारत और राजस्थान में प्रचलित यह वाद्य मिट्टी से हमारे गहरे जुड़ाव को दर्शाता है, जो यह सिद्ध करता है कि भारतीय संस्कृति में प्रकृति ही संगीत का आधार है।

सूफी और भक्ति का लोक-संगम

पंजाब के 'हीर-रांझा' और 'बुल्ले शाह' की काफ़ियों में जो दर्द है, वही दर्द राजस्थान के 'मीरा के पदों' में मिलता है। यहाँ 'इश्क-ए-मिजाजी' (लौकिक प्रेम) और 'इश्क-ए-हकीकी' (ईश्वरीय प्रेम) एक हो जाते हैं। सांस्कृतिक एकता-बंगाल के 'बाउल' गीत गाते समय एक कलाकार हिंदू है या मुसलमान, यह गौण हो जाता है। उनकी 'एकतारा' की तान भारत की उस मिली-जुली संस्कृति की उद्घोषणा करती है जो नफरत के हर दौर में एकता का संदेश देती रही है। लोकगीतों ने समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति को भी अपनी अभिव्यक्ति का मंच दिया। चर्मकार, बुनकर और कृषक समुदायों के अपने विशिष्ट गीत हैं, जिनमें श्रम की महत्ता बताई गई है। कबीर के "झीनी-झीनी बीनी चदरिया" जैसे पद उत्तर से दक्षिण तक श्रम और सृजन की एकता का प्रतीक हैं। विविधता में एकता का यह अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि भारत के क्षेत्रीय लोकगीत वास्तव में 'मौखिक संविधान' की तरह कार्य करते हैं। ये गीत हमें बताते हैं कि एक आदर्श मनुष्य, एक आदर्श परिवार और एक आदर्श समाज कैसा होना चाहिए। वाद्य ही 'धुन' को पहचान देते हैं। भारत की सांस्कृतिक विविधता को इन तालिकाओं के माध्यम से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। जहाँ उत्तर भारत में वीर और भक्ति रस की प्रधानता है, जिसे ढोलक और चिमटे की थाप पर रामायण एवं महाभारत की कथाओं के जरिए अभिव्यक्त किया जाता है, वहीं दक्षिण भारत में भक्ति और शृंगार रस का संगम मिलता है, जो घटम और मृदंगम जैसे वाद्यों के साथ मंदिरों और पौराणिक इतिहास से जुड़ा है। पूर्वी भारत में आध्यात्मिकता और प्रकृति के प्रति प्रेम झलकता है, जहाँ एकतारा और बाँसुरी के स्वर मानवतावाद एवं सूफीवाद को बढ़ावा देते हैं। इसके विपरीत, पश्चिमी भारत शौर्य और विरह की कहानियों के लिए जाना जाता है, जहाँ रावणहत्था और खड़ताल जैसे वाद्य यंत्र अतिथि सत्कार और शरणागत रक्षा जैसे मूल्यों को स्वर देते हैं।

चुनौतियां और संरक्षण : आधुनिकता के दौर में लोक विरासत

आज के वैश्वीकरण के युग में लोकगीतों के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है। 'पाॅप कल्चर' और 'रील्स' के दौर में क्षेत्रीय बोलियाँ सिमट रही हैं।

लोकगीतों का बाजारीकरण बनाम संरक्षण

जब लोकगीतों को फिल्मी संगीत में मिलाया जाता है, तो उनकी पहुँच तो बढ़ती है, लेकिन उनकी 'मौलिक आत्मा' अक्सर खो जाती है। फिल्मी संगीत का हस्तक्षेप 'आइटम नंबर्स' और रीमिक्स के दौर में वास्तविक लोक-धुनें पृष्ठभूमि में चली गई हैं। आधुनिकता के प्रभाव में गाँवों से शहरों की ओर पलायन के कारण लोकगीतों की 'श्रुति परंपरा' टूट रही है। जब युवा पीढ़ी अपनी बोली भूल जाती है, तो वह उस क्षेत्र का लोक-संगीत भी खो देती है। हमें आवश्यकता है कि हम 'लोकगीतों' को उसके शुद्ध रूप में संरक्षित करें।

डिजिटल युग में एकता का नया स्वरूप

आज यूट्यूब और सोशल मीडिया के माध्यम से केरल का व्यक्ति बिहार के 'छठ गीत' सुन रहा है और राजस्थान का युवा 'बिहू' की थाप पर थिरक रहा है। यह 'डिजिटल सांस्कृतिक एकीकरण' का नया युग है, जहाँ विविधता अब दूरी नहीं, बल्कि 'खोज' का विषय बन गई है। आशा की किरण: हाल के वर्षों में 'मालिनी अवस्थी', 'पप्पु करकी' जैसे कलाकारों ने लोकगीतों को आधुनिक मंचों पर पुनः प्रतिष्ठित किया है। सोशल मीडिया ने इन गीतों को 'ग्लोबल' बना दिया है।

लोकगीतों में भाषाई सेतु और शब्दावली की एकता

भारत की विभिन्न बोलियों—अवधी, ब्रज, मैथिली, मारवाड़ी, कन्नड़, तमिल और डोगरी में एक अद्भुत भाषाई साम्यता है। प्रतीकों की एकता 'कमल', 'हंस', 'चक्रवाक', और 'बादल' जैसे प्रतीकों का प्रयोग कश्मीर से कन्याकुमारी तक के लोकगीतों में जीवन के दर्शन को समझाने के लिए किया जाता है। यदि हम लोकगीतों के शब्दों का विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे कि 'संस्कृत' के तत्सम और तद्भव शब्द पूरे भारत के लोकगीतों को एक अदृश्य धागे में पिरोते हैं। नेह और स्नेह: राजस्थान के गीतों में जिसे 'नेह' कहा गया, वही बंगाल के गीतों में 'सनेह' और दक्षिण के भक्तिपरक लोक-काव्य में 'स्नेहम्' के रूप में प्रकट होता है। यह प्रमाणित करता है कि हमारा 'काव्यात्मक मानस' भौगोलिक दूरियों के बावजूद एक ही स्रोत से पोषित है।⁶ भारतीय लोकगीतों के अध्ययन के दौरान कुछ ऐसे शब्द बार-बार आते हैं जो हमारी सांस्कृतिक एकता के आधारभूत स्तंभ हैं-

1. **आंचलिकता:** किसी विशेष क्षेत्र या अंचल की विशिष्ट पहचान, जो लोकगीतों की धुन और बोली में झलकती है।
2. **लोक-मानस:** समाज की वह सामूहिक सोच और भावना जो लोकगीतों के माध्यम से व्यक्त होती है।
3. **श्रुति परंपरा:** वह ज्ञान या कला जो लिखित न होकर सुनकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती है।
4. **तत्सम-तद्भव समन्वय:** लोकगीतों में संस्कृत के शब्दों का देशज रूप में प्रयोग, जो भाषाई एकता का प्रमाण है।
5. **सामूहिकता:** व्यक्तिगत गौरव के बजाय पूरे समुदाय या राष्ट्र के गौरव का गायन।
6. **रस-सिद्धांत:** लोकगीतों में वीर, शृंगार और करुण रस का वह प्रवाह जो भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से प्रेरित है।

लोकगीतों में नारी चेतना और सामाजिक संरचना

लोकगीत पुरुषों की तुलना में महिलाओं के अधिक निकट रहे हैं। चक्की पीसते समय, पानी भरते समय या बच्चों को सुलाते समय गाए जाने वाले गीतों में भारतीय स्त्री की सामूहिकता के दर्शन होते हैं।

'विदाई' और 'करुणा' का अखिल भारतीय स्वर

जब एक बेटी विदा होती है, तो हिमाचल में गाई जाने वाली 'लमन' और केरल के 'कल्याण पाट्टु' की करुणा एक समान होती है।

"बाबुल वारा रे, थारे खूँट्या बांधी गाय..." (राजस्थान)

"काहे को ब्याही बिदेश..." (अमीर खुसरो/उत्तर भारत)

इन गीतों में बेटी को 'चिड़िया' या 'गाय' के रूप में चित्रित करना यह दर्शाता है कि भारतीय समाज में स्त्री के प्रति संवेदना और पारिवारिक मर्यादा के मापदंड पूरे उपमहाद्वीप में एक जैसे रहे हैं।

शक्ति स्वरूपा नारी

राजस्थान की 'हाड़ी रानी' की गाथा हो, कर्नाटक की 'कितूर चेन्नम्मा' के वीर गीत हों या बुंदेलखंड में लक्ष्मीबाई की स्तुति—लोकगीतों ने नारी को केवल अबला नहीं, बल्कि आपत्ति काल में 'चंडी' के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है। यह 'शक्ति पूजा' भारतीय संस्कृति का आधारभूत स्तंभ है।

लोकगीतों में भक्ति और सूफीवाद का अद्वैत

भारत की सबसे बड़ी शक्ति इसकी साझा विरासत है। लोकगीतों ने कभी भी सांप्रदायिकता को स्वीकार नहीं किया। कबीर और बुल्ले शाह पंजाब के लोकगीतों में बुल्ले शाह की काफ़ियाँ और बनारस की गलियों में कबीर के पद एक ही सुर में 'मानववाद' की बात करते हैं। ललन फकीर के बाउल बंगाल के ये गीत हिंदू और मुस्लिम, दोनों समुदायों के बीच एक सेतु का काम करते हैं। यहाँ 'अल्लाह' और 'हरि' एक ही सुर में विलीन हो जाते हैं। सूफी संगीत और राजस्थान ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की कव्वालियाँ और मीरा के भजन अक्सर एक ही 'धमार' या 'ताल' पर आधारित होते हैं, जो भारत की 'सर्वधर्म समभाव' की पहचान को लोक-लय में सुरक्षित रखते हैं।

'एक भारत, श्रेष्ठ भारत' का एक स्वर

क्षेत्रीय लोकगीतों की विविधता वास्तव में भारत के बहुआयामी व्यक्तित्व का प्रतिबिंब है। जैसे एक हीरे के कई पहलू होते हैं और हर पहलू से अलग रंग की किरण निकलती है, लेकिन वह हीरा एक ही होता है; वैसे ही भारतीय संस्कृति इन लोकगीतों के माध्यम से अपनी एकता को प्रकट करती है। ये गीत हमें सिखाते हैं कि हम 'विविध' होने के लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन 'भारतीय' होने के लिए प्रतिबद्ध हैं। जब तक गाँवों में 'अल्लाह' गूँजेगा, जब तक विदाई पर 'बाबुल' के गीत गाए जाएंगे और जब तक फसलों की कटाई पर ढोल बजेंगे, तब तक भारत की सांस्कृतिक एकता को कोई भी बाहरी शक्ति खंडित नहीं कर पाएगी। क्षेत्रीय लोकगीत हमारी वह धरोहर हैं जो हमें अपनी जड़ों से जोड़कर रखती हैं।⁷ ये गीत घोषणा करते हैं कि हम ऊपर से भले ही अलग दिखें, लेकिन हमारी आत्मा का स्वर एक ही है। 'वसुधैव कुटुंबकम' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के मंत्र इन लोकगीतों के माध्यम से ही जन-जन तक पहुँचे हैं। 'क्षेत्रीय लोकगीत' भारत के उस विशाल शरीर की कोशिकाएं हैं, जिनका केंद्र एक ही है—भारतीयता। भारत के क्षेत्रीय लोकगीत केवल 'बीते हुए कल' की स्मृतियाँ नहीं हैं, बल्कि वे 'आने वाले कल' के लिए प्रेरणा हैं। विविधता हमारी कमजोरी नहीं, बल्कि हमारी 'सांस्कृतिक संपन्नता' है।

जब एक सिंधी लोकगीत की धुन पर कोई तमिल भाषी थिरकता है, या जब बंगाल के 'बाउल' गीत उत्तर भारत के श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करते हैं, तब सीमाओं की लकीरें मिट जाती हैं। ये लोकगीत उस 'अखंड भारत' के रक्षक हैं जिसकी कल्पना हमारे ऋषियों ने हजारों साल पहले की थी। विविधता के इन अनगिनत स्वरों के बीच गूँजने वाला 'भारतीयता' का स्वर ही वह महासंगीत है जिसे दुनिया 'भारत' के नाम से जानती है।

ये गीत केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि हमारा 'जीवंत इतिहास' हैं। ये हमें बताते हैं कि हम कहाँ से आए हैं और हमारी जड़ें कितनी गहरी हैं। विविधता का अर्थ बिखराव नहीं, बल्कि एक सुंदर 'मोजेक' की तरह है, जहाँ हर रंग अलग होकर भी एक संपूर्ण चित्र बनाता है। इन गीतों का संरक्षण केवल संगीत का संरक्षण नहीं है, बल्कि उस 'सांस्कृतिक एकता' का संरक्षण है जिसने भारत को हजारों वर्षों से एक राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ग्रियर्सन, जॉर्ज ए. (1903-1928). लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (Linguistic Survey of India).
2. जगन्नि (कवि) आल्हा खंड (रासो परमाल)
3. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोकरूपरेखा की संस्कृति-प्रचारक हिंदी संस्थान, वाराणसी
4. दाश, गगनेंद्र नाथ. The Making of a Folk Epic.
5. मिश्र, नीलमणि. ओड़िआ लोकगीत ओ कहानी।
6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. भाषा और संवेदना. लोकभारती प्रकाशन।
7. अग्रवाल, वासुदेव शरण. कला और संस्कृति, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

सहायक प्राध्यापक
संगीत एवं ललित कला संकाय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल: dr.smrititripathi11@gmail.com

औपनिषदिक अद्वैतवाद का वैचारिक परिदृश्य

शारदा कुमारी

सृष्टि के मूल में रहने वाली सत्ता की खोज दर्शन का मुख्य विषय है। यह सत्ता सत् है या असत्, एक है अथवा अनेक। इन समस्याओं के अन्वेषण तथा उत्तर के अनेक मार्ग और मत हैं जिनसे अनेक दार्शनिक वादों का उदय हुआ। जो सम्प्रदाय मूल सत्ता को एक मानते हैं उनको एकत्ववादी कहते हैं। जो मूल सत्ता को अनेक मानते हैं, वे अनेकत्ववादी कहे जाते हैं पर इनसे भिन्न एक सम्प्रदाय है जिसको अद्वैतवाद कहा जाता है। उसके अनुसार सत् न एक है और न अनेक, अर्थात् आत्मा और प्रकृति में जो द्वैत दिखाई पड़ता है वह यथार्थ नहीं है। वह माया अथवा अविद्या का परिणाम है। अन्तिम विश्लेषण में आत्मा और ब्रह्म एक ही है।

वैदिक धर्म का बहुदेववाद कालान्तर में एकदेववाद में परिणत हुआ। नाना देवताओं में समान गुण देखने के कारण उनमें एक व्यापक एकता की कल्पना का उदय हुआ। प्रारम्भ में वैदिक ऋषियों द्वारा सम्भवतः कार्यकारण भाव के अन्तर्गत सृष्टि को इच्छासृष्टि के रूप में और स्रष्टा को शक्तिमान् पुरुष के रूप में कल्पित किया गया। इस प्रकार प्रकृति के कार्य व्यापार से सहायता करने हेतु देवताओं को कल्पना हुई। कार्यकारणभाव को सम्यक् रूप से समझे जाने पर समस्त सृष्टि के एक परम कारण के रूप में ईश्वर या परमात्मा की कल्पना का उदय हुआ।

इस अवधारणात्मक विकास के समानान्तर ही उपासना का भी विकास हुआ। पहले द्रव्य-यज्ञ के द्वारा ही देवताओं का प्रसादन होता था ताकि उनकी कृपा से ऐहिक अभ्युदय की प्राप्ति हो लेकिन जब देवताओं के सूक्ष्म सत्तात्मक ईश्वर या ब्रह्म में विलीन होने की मान्यता प्रबल हुई तो उनकी उपासना भी ध्यान और ज्ञान में बदल गयी। वैदिक ऋषियों द्वारा मनुष्य से लेकर ब्रह्म तक सम्पूर्ण प्राणियों के सुख-दुःख और भोगों का विवेचन किया गया। जगत् की सृष्टि और प्रलय का कारण क्या है? जगत् का नियन्ता और रचयिता एक है अथवा अनेक है? वह साकार है या निराकार? सगुण है अथवा निर्गुण? श्रुतियों में अत्यन्त तार्किक एवं व्यावहारिक

रूप में उपर्युक्त जिज्ञासाओं को कई स्थलों पर प्रकट किया गया है। “को अद्वा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः” अर्थात् प्रकृति के तत्त्व को कोई नहीं जानता तो उसका वर्णन कौन कर सकता है?¹ इस सृष्टि की उत्पत्ति-कारण क्या है? दिनकर ने लिखा है - आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने बहुत अधिक नहीं सोचा था। इन सिद्धान्तों के बीज संकेत के रूप में वेदों में प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका विकास आगे बलकर उपनिषदों में हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, इस सिद्धान्त का संकेत वैदिक ऋचाओं में मिलता है, किन्तु आत्मा का आवागमन क्यों होता है, इसका संतोष जनक उत्तर वेदों में नहीं मिलता।² रामधारी सिंह दिनकर ने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक ऋषियों की ऐसी ही जिज्ञासाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'वैदिक ऋषि जहाँ यह पूछकर शान्त हो जाते थे कि यह सृष्टि किसने बनायी? और कौन देवता है जिसकी हम उपासना करें? वहाँ उपनिषदों के ऋषियों ने सृष्टि बनाने वाले के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का निश्चयन कर दिया और उस 'सत्' का भी पता पा लिया जो पूजा और उपासना का वस्तुतः अधिकारी है।³ गीता में भी कहा गया है “किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः” अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं।

प्रकृति के प्रत्येक रूप एवं इससे संबंधित विभिन्न देवताओं की पूजा करने पर आर्य यह मानते थे कि ये सभी देवता मूलतः एक ही है। निरुक्तकार का कहना है कि 'तत्तत्कर्मानुसारं विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी सभी देव एक ही हैं'। यास्क ने 'नरराष्ट्रमित्र' का उदाहरण दिया है। अर्थात् व्यक्तिरूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे असंख्य मनुष्य राष्ट्र-रूपसे एक है, वैसे ही विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा व्याप्त है। इसी परमात्मा को याजिकों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गये हैं।

बुहदेवता के प्रथम अध्याय के पाँच श्लोकों से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्ड के मूल में एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह “एकमेवाद्वितीयम्” है। उसी एक की नाना रूपों में अलग-अलग शक्तियों के अधिष्ठात्री रूप में स्तुति की गयी है। नियन्ता तो एक ही है। वस्तुतः समस्त देव इसी मूल सत्ता के विकास है।

आरण्यक में भी कहा गया है कि ऋग्वेदी लोग एक ही सत्ता की उपासना ऋग्वेदीय मन्त्रों (उक्त्यों) में करते हैं।⁴ ऋग्वेद के एक मंडल के 22 मन्त्रों में क्रमवार सबके 'महृदेवानामसुरत्वमेकम्' वाक्य आया है।⁵ जिसका अर्थ है कि, देवों की शक्ति एक ही है, दो नहीं, अर्थात् महाशक्ति का विकास होने के कारण देवों की शक्ति

पृथक् या स्वतंत्र नहीं है। वैदिक ऋषियों की प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति या प्रशंसा उनकी शासिका या अधिष्ठात्री चेतन-शक्ति की है। उनके स्थूल रूप की नहीं। इस चेतन शक्ति को वे परमात्मा से पृथक् और स्वतंत्र नहीं अपितु परमात्मरूप ही मानते थे। वेदों में यद्यपि परमात्मा के रूप की कल्पना बहुत सुस्पष्ट तो नहीं मिलती, किन्तु उसकी सत्ता सुस्पष्ट है।⁶ इस कल्पना की नींव नासदीय सूक्त में प्राप्त होती है। इसी सूक्त को बाल गंगाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' के विषय प्रवेश में मानव जाति का सर्वश्रेष्ठ स्वाधीन चिन्तन कहा है। नासदीय सूक्त में सिर्फ सात मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रों के आधार पर हमारे छह शास्त्रों की सृष्टि हुई है और इन्हीं छह दर्शनों से संसार भर के दर्शनों की उत्पत्ति हुई है।⁷ उपनिषदों में जो सूक्ष्म चिंतन मिलता है, उसका मूल नासदीय सूक्त में था। इस सूक्त में कहा गया है- उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी केवल एक ब्रह्म थे। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सर्वत्र अंधकार विद्यमान था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियों हुई? क्या देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं? कहाँ परसृष्टि हुई, यह कौन जानता है? ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुई? किसने सृष्टि की और किसने नहीं की, ये सब ये ही जानें जो इनके स्वामी परम धाम में रहते हैं। हो सकता है कि वे भी यह सब नहीं जानते हों।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं- मैं अज्ञानी होने के कारण पूछता हूँ जिसने इन छः लोकों को स्थिर किया है, वे अजन्मा क्या एक ही है?⁸ यहाँ परमात्मा का स्पष्ट निर्वचन है। इसी तरह “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया” अर्थात् दो पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है। एक सांसारिक भोगों में लिप्त है और दूसरा केवल देखता रहता है।⁹ इसमें जीवात्मा और परमात्मा ही दो पक्षी है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि समाधि दशा का अनुभव करते हुए कहते हैं-संसार में घास और अन्न खाने वाले जितने मनुष्य हैं, सब मैं ही हूँ। हृदयाकाश में जो अन्तर्यामी ब्रह्म अवस्थित है, वह मैं ही हूँ।¹⁰ इससे बढ़कर अद्वैतवाद की अनुभूति क्या होगी? एक मन्त्र में कहा गया है ‘ईश्वर प्रजा को बनाने वाला और द्यावापृथिवी को धारण करने वाला है।¹¹

परमात्मा एक है किन्तु क्रांतिदर्शी विद्वान् उनकी अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं। इसी विमर्श में एक और मन्त्र ‘सुपर्णाविप्राः कवयोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति’।¹² ऋग्वेद पुरुषसूक्त के एक मन्त्र में कहा गया है जो कुछ हुआ है और जो

कुछ होने वाला है, वह सब ईश्वर है। ईश्वर देवता के स्वामी हैं। प्राणियों के निमित्त वे अपनी कारणावस्था छोड़कर कार्यावस्था को प्राप्त होते हैं।¹³ इसमें 'सर्व खल्विदं ब्रह्म का' का स्पष्ट उद्घोष है। इसमें निहितार्थ यह भी है कि जैसे परमात्मा और जीवात्मा एक है, उस प्रकार देवों के स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं। बाह्य जगत् को पृथ्वी, अंतरिक्ष, और द्यु-स्थानीय में विभक्त कर एक समष्टि के रूप में देखा गया। यद्यपि देवता अनेक हो सकते हैं और अपने विभाग का शासन कर सकते हैं किंतु जिस जगत् का वह शासन करते हैं, वह एक है। प्रकृति में सन्निहित इस एकत्व के बोध से एकेश्वरवादी और अद्वैतवादी विचार बलवती होते चले गए।

परमात्मा के स्वरूप विषयक जिज्ञासाओं का अत्यन्त स्पष्टता से कठोपनिषद् समाधान करता है। 'यदेवेह स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'¹⁴

जो सर्वशक्तिमान सबके परम कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोक में हैं. वही वहाँ जो सर्वशक्तिमान् सबके परम कारण, परब्रह्म परलोक में अर्थात् देव-गन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकों में भी है। जो यहाँ हैं, वे ही वहाँ भी हैं। एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जो उन एक ही परब्रह्म को लीला से नाना नामों और रूपों में प्रकाशित देखकर उनमें नानात्व की कल्पना करता है, उसे बार-बार मृत्यु के अधीन होना पड़ता है। अतः दृढतापूर्वक यही समझना चाहिये कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति के सहित नाना रूपों में प्रकट है और यह सारा जगत् बाहर भीतर उन एक परमात्मा से ही व्याप्त होने के कारण उन्हीं का स्वरूप है। इसी विचार श्रृंखला की कड़ी में अगला मन्त्र कहता है-“परमात्मा कर परमतत्त्व शुद्ध मन से इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत् में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा हो परिपूर्ण है। सब कुछ उन्हीं का स्वरूप है। यहाँ परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। जिसे इस जगत् में नानात्व की प्रतीति होती है वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता”।¹⁵

यद्यपि उत्तर वैदिक और वेदोत्तर कालों में देवताओं में एकात्मकता और स्वरूपतः भिन्नता सुप्रतिपादित थी किंतु सभी युगों यह में स्वीकार्य रहा है कि देवताओं की एकता की प्रकृति का यह अर्थ कभी नहीं था कि नाना देवताओं को मिथ्या मानकर उनकी उपासना का वैसे खंडन कर दिया जाए जैसे अन्य धर्म बराबर करते रहे हैं। इसके विपरीत पूर्ववैदिक युग में ही देवताओं के वर्णन में समानरूपता स्पष्ट रूप से मिलती है। समस्त देवता लोकोत्तर, शक्तिमान, जगत्स्रष्टा, जगत् रक्षक, ऋत के पालक, अजर, अमर, ऐश्वर्यवान् चेतन, मनुष्य के लिए हितकारी और दयालु हैं। एक ईश्वर की कल्पना में इन्हीं गुणों का समुच्चय देखा

जाता है। इसी सादृश्य के कारण देवताओं को बहुधा एक-दूसरे से युगल के रूप में अथवा गण के रूप में जोड़ा भी गया है। पृथक-पृथक नाम रूप आदि देने पर भी इनमें परस्पर संघर्ष नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनेकशः यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि एक ही सत् को ज्ञानी बहुधा निरूपित करते हैं।¹⁶ नासदीय सूक्त द्वैतपरक आध्यात्मिक ज्ञान का अतिक्रमण कर उच्चतर अद्वैतवाद को स्वीकार करता है। यह प्रकृति एवं आत्मा दोनों को ही परम सत्ता के दो रूप बतलाता है। परमसत्ता स्वतः (अपने आपमें) न तो 'अहम' है और न 'अहम' का अभाव है, न तो 'अहम' की प्रकृति की स्वयं चेतना है और न ही 'अहम' के अभाव के रूप की चेतना हीनता है। यह श्रेष्ठतर चेतना है। विरोध का विकास स्वयं इसी के अन्दर हुआ है। इस सूक्त के सृष्टि विषयक विचार के समान ही विचार 'शतपथ ब्राह्मण' में भी प्राप्त होता है जहाँ कड़ा गया है कि आरम्भ में न तो सत् और न असत् था। (शतपथ ब्रा. 108.11) एक देवता से दूसरे को मिला देने अथवा उनका वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति ऋग्वेद में व्याप्त है। पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय, और द्यु-स्थानीय देवताओं के रूप में वर्गीकरण का संकेत ऋक् संहिता में ही मिल जाता है। उनकी संख्या कभी 33 तो कभी 333 कही गयी है। (शतपथ ब्रा. 101.21) ईश्वर की एकात्मक धारणा में पहुंचने का उपाय देवताओं को समष्टि रूप में देखना भी था। फलतः विश्वेदेवाः को कल्पना की गयी। अतः वैदिक धर्म के बहुदेववाद, एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद मानने के संबंध में विद्वानों में पाया जाने वाला मतभेद का शास्त्रीय आधार नहीं दिखता क्योंकि ऋक् संहिता के प्राचीनतम अंश में ही अनेक देवों के ऊपर एक सर्वोच्च देव की अवधारणा दृष्टिगोचर होती है। वेद का वृहतर अंश 'कर्मकाण्ड' कहलाता है, यद्यपि ज्ञानकाण्ड में वैदिक विचार की परिणति होती है। कर्मकाण्डपरक वैदिक धर्म को समझने हेतु 'देव' का स्वरूप समझना नितान्त आवश्यक है।

हिन्दू धर्मकोश में¹⁷ एकेश्वरवाद से संबंधित विवरण इस प्रकार है- बहुत से देवताओं की अपेक्षा एक ही ईश्वर को मानना। इस धार्मिक अथवा दार्शनिक वाद के अनुसार कोई एक सत्ता है जो विश्व का सर्जन और नियन्त्रण करती है, जो नित्य ज्ञान और आनन्द कर आश्रय है जो पूर्ण और सभी गुणों का आगार है और सबका ध्यान केन्द्र और आराध्य है। यद्यपि विश्व के मूल में रहने वाली सत्ता के विषय में कई वाद हैं, जिसमें एकत्ववाद और अद्वैतवाद बहुत प्रसिद्ध हैं।

व्यावहारिक जीवन में एकेश्वरवाद की प्रधानता होते हुए भी पारमार्थिक और आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से इसका पर्यवसान अद्वैतवाद में होता है। अद्वैतवाद अर्थात् जीवका का परमात्मा में पूर्ण विलय। जागतिक सम्बन्ध से एकेश्वरवाद के

कई रूप हैं। एक है सर्वेश्वरवाद। इसका अर्थ यह है कि जगत् में जो कुछ भी है यह ईश्वर ही है और ईश्वर सम्पूर्ण जगत् में ओत-प्रोत है। परन्तु भारतीय सर्वेश्वरवाद पाश्चात्य 'पैनथिडिज्म' नहीं है। पैनथिडिज्म में ईश्वर अपने को जगत् में समाप्त कर देता है। भारतीय सर्वेश्वर जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त कार अनन्त विस्तार में उसका अतिरेक कर जाता है। वह अन्तर्यामी और अतिरेकी दोनों है। एकेश्वरवाद का दूसरा रूप है ईश्वर कारणतावाद। इसके अनुसार ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करके उससे अलग हो जाता है और जगत् अपनी कर्म श्रृंखला से चलता रहता है। न्याय और वैशेषिक इसी मत को मानते हैं। एकेश्वरवाद का तीसरा रूप है "शुद्ध ईश्वरवाद"। इसके अनुसार ईश्वर सर्वेश्वर और ब्रह्म के स्वरूप को भी अपने में आत्मसात कर लेता है। वह सर्वत्र व्याप्त, अन्तर्यामी तथा अतिरेकी और जगत् का कर्ता-धर्ता, संहर्ता जगत् का सर्वस्व और आराध्य है। इसी को श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है। सगुणोपासक वैष्णव तथा शैव इसी ईश्वरवाद में विश्वास करते हैं। एकेश्वरवाद का चौथा रूप है 'योगेश्वरवाद'। इसके अनुसार ईश्वर वह पुरुष है जो कर्म, कर्मफल तथा कर्माशय (कर्मफल के संस्कार) से मुक्त रहता है, उसमें ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा होती है, जो मानव का आदि गुरु और गुरुओं का भी गुरु है।

अतः यह स्पष्ट है कि अद्वैतवाद का उद्गम वेदों में ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सत् और असत् से विलक्षण सत्ता का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। यद्यपि अद्वैतवाद का विस्तार से निरूपण उपनिषदों में भी किया गया है छान्दोग्योपनिषद् में केवल आत्मा और ब्रह्म को यथार्थ माना गया है और जगत् के समस्त प्रपञ्च को निरर्थक मानते हुए विकार कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् नानात्व का खंडन करते हुए नेति नेति कहता है (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं)। केवल आत्मा को ही सत्य सिद्ध किया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् में भी आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों के पश्चात् बादरायण के ब्रह्मसूत्र में प्रथम बार अद्वैतवाद का क्रमबद्ध प्रतिपादन किया गया है। शंकराचार्य ने तीनों प्रस्थानों उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य लिखा और वे ही अद्वैतवाद के सिद्ध प्रमाण हैं।

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद 10.129.6
2. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ संख्या - 85
3. संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ संख्या-86
4. एतरेयारण्यक-32.312

वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

[104]

औपनिषदिक अद्वैतवाद का वैचारिक परिदृश्य

5. ऋग्वेद- 3.5.5, 1 से 12
6. ऋग्वेद -10.129
7. वैदिक साहित्य, पृष्ठ संख्या- 421 (पंडित राम गोविंद त्रिवेदी, वेदांत शास्त्री)
8. ऋग्वेद - 1.164.6
9. ऋग्वेद- 1.164.20
10. ऋग्वेद- 10.27.9
11. ऋग्वेद- 10.31.8
12. ऋग्वेद- 10.114.5
13. ऋग्वेद- 10.10.2
14. कठोपनिषद्- 2.1.10
15. कठोपनिषद्- 2.1.11
16. भारतीय दर्शन- भाग-1 पृष्ठ संख्या: 79-80
17. हिंदू धर्म कोश- डॉ राजबली पांडेय, पृष्ठ संख्या 143 – 144

अतिथि प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समाज, धर्म एवं दर्शन

गीता में जनकल्याण की अवधारणा

रंजना शर्मा

यहा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता 4/17)

अर्थात् हे भारत (अर्जुन) जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं साकार रूप से लोगों के सामने प्रगट होता हूं अर्थात् अवतार लेता हूं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थं सम्भवामि युगे-युगे॥ (गीता 4/18)

अर्थात् साधु पुरुषों के उद्धार के लिए दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना के लिए मैं युग युग में प्रगट होता हूं।

श्री कृष्ण कहते हैं जब जब धर्म की हानि होती है तब तब वह अवतार लेते हैं प्रगट होते हैं। यह धर्म की हानि क्या है? निश्चित रूप से जनकल्याण का न होना धर्म की हानि है। जब जब समाज में जनकल्याण नहीं होता तब तब उनके कल्याण के लिए प्रभु अवतार लेते हैं, प्रगट होते हैं। साधु- पुरुषों के उद्धार व दुष्टों के विनाश के लिए प्रभु प्रगट होते हैं। ये साधु पुरुष कौन हैं ? ये दुष्ट लोग कौन हैं ? निश्चित रूप से लोगों का कल्याण करने वाले साधु पुरुष हैं और लोगों का अकल्याण करने वाले दुष्ट लोग हैं। न केवल भारत वरन् पूरे विश्व में महान व्यक्ति वही लोग कहलाये जिन्होंने ने लोगों के कल्याण के लिए कार्य किया। महान वही व्यक्ति होता है जो जनकल्याण करता है। महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, शंकराचार्य, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद आदि सभी महान व्यक्तियों ने जनकल्याण किया व जनकल्याण के लिए ही अपना पूरा जीवन व्यतीत किया। भगवान श्री कृष्ण कहते हैं धर्म की अच्छी तरह से स्थापना के लिए ही वह युग युग में प्रगट होते हैं। समाज में धर्म वही है जो जनकल्याणकारी हो। प्रत्येक धर्म लोगों के कल्याण के लिए ही होता है। इसी जनकल्याण के धर्म की स्थापना के लिए ईश्वर समय समय पर प्रगट होते हैं।

गीता में जनकल्याण की अवधारणा “लोकसंग्रह” में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। “लोकसंग्रह” गीता का मुख्य सामाजिक नैतिक आदर्श है। “लोकसंग्रह” अनासक्त भाव से बिना फल की इच्छा के लोक कल्याण के लिए कर्म करना है। जब मनुष्य लोक कल्याण के लिए कर्म करता है तो समाज में रहने वाले लोग प्रसन्न होते हैं और लोक कल्याण करने वाले व्यक्ति से जुड़ते हैं, उसके साथ मिलकर रहते हैं। लोक कल्याणकारी कार्य सबका मंगल, सबका कल्याण करता है। इससे पूरे संसार का कल्याण होता है।

लोकसंग्रह की अवधारणा में “लोकशिक्षण” भी अन्तर्निहित है। “लोकशिक्षण” का कार्य करने वाला मनुष्य, साधक, कामनारहित अंतर्मन से तृप्त, पूर्णता से युक्त होता है और उसका प्रत्येक कार्य लोक कल्याणकारी होता है। वह लोगों की प्रेरणा व शिक्षक भी होता है लोग उसके कर्मों से प्रेरित व शिक्षित दोनों होते हैं।

गीता के तीसरे अध्याय के 19 वे श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं - “हे अर्जुन तू निरंतर आसक्ति रहित होकर सदा ही कर्तव्य कर्मों को भलीभांति करता रह। क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता जाता है। कर्मयोगी की व्याख्या करते हुए तीसरे अध्याय के 20 वें श्लोक में कहते हैं जनक आदि कर्म द्वारा ही सिद्धि तक पहुंचे थे। “लोकशिक्षण” अर्थात् लोगों को संग्रहित (संगठित) या इकट्ठा बनाये रखने के उद्देश्य से ही तुझे कर्म करना चाहिए। समाज को संग्रहित, संगठित आसक्तिरहित कर्म, निष्कामभाव से युक्त कर्म द्वारा ही किया जा सकता है। जो जितना निःस्वार्थ भाव से कर्म करेगा वह उतना समाज से व समाज उससे जुड़ेगा। लोगो को जोड़ने का काम आसक्तिरहित निष्काम भाव कर्म ही है। समाज का कल्याण परस्पर जुड़े रहने, संगठित रहने से ही संभव है और यह कार्य सामाजिक आदर्श “लोकशिक्षण” द्वारा ही संभव है।

समाज से दूर रहकर ईश्वर से तादात्म्य नहीं हो सकता। समाज प्रत्यक्ष ईश्वर है। जो व्यक्ति सब प्राणियों को अपने में तथा अपने को सब प्राणियों में देखता है वही सबसे प्रेम करता है, वही सबका कल्याण करता है, वही सबसे तादात्म्य व एकत्व स्थापित करता है और यही उसके अहंकार भाव की समाप्ति भी करता है। लोकसंग्रह कर्मयोग की प्रशंसा करता है और कर्म त्याग, कर्म सन्यास की निन्दा करता है। मनुष्य के कर्म अपने हित के लिए नहीं वरन् लोकसंग्रह के लिए होना चाहिए। लोक संग्रह का अर्थ ही है संपूर्ण लोक अर्थात् संपूर्ण समाज के हित के लिए कार्य करना। यह सर्वोच्च सामाजिक आदर्श है। ईश्वर भी लोकसंग्रह के लिए अवतार लेते हैं। यह सारा जगत ईश्वर में ओत प्रोत है तथा सभी आत्माओं में उसी परमसत्ता

का वास है। अतः हमें सबको अपने ही समान समझते हुए सबके हित के लिए कार्य करना चाहिए। सच्चा योगी सर्वभूत हित रत रहता है। लोकसंग्रह के लिए किया गया कार्य समाज के साथ-साथ मनुष्य के लिए भी लाभदायक होता है क्योंकि यही लोकसंग्रह का कार्य मनुष्य को ईश्वर के करीब ले जाता है। संपूर्ण भूतों के हित में लगा रहने वाला व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त करता है। मनुष्य की मुक्ति का मार्ग लोकसंग्रह है।

गीता लोकसंग्रह के लिए किये जाने वाले कार्य निष्काम भाव से करने के लिए कहती है। बिना किसी फल की आशा के कर्तव्य भाव से, निष्काम भाव से, निःस्वार्थ भाव से कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है। यही लोकसंग्रह है जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमलपत्र जल में लिप्त नहीं होता वैसे ही आसक्ति रहित कर्म, कर्म करते हुए भी मनुष्य को संसार में लिप्त नहीं होता, बंधनग्रस्त नहीं करता, यही कर्म लोकसंग्रह है। लोकसंग्रह अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करते हुए संसार को बनाये रखना है। संसार की एकता उसकी परस्पर सम्बद्धता को बनाये रखना है। डॉ. राधाकृष्णन मानते हैं कि यदि सामान्य जीवन को सुचारू और सगौरव बनाये रखना है तो सामाजिक कर्म का नियंत्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए जिसका उद्देश्य समाज का आध्यात्मीकरण करना है अर्थात् पृथ्वी पर भ्रातृत्व की स्थापना करना है। बोईथियस ने कहा जो अकेला स्वर्ग जाने का तैयार है वह कभी स्वर्ग नहीं जा पायेगा। ज्ञानी लोग लोकसंग्रह के लिए कार्य करते हैं। लोकमान्य तिलक यह मानते हैं कि किसी भी प्राणी को सामूहिक प्रयत्न में सहयोग दिये बिना दूसरे के कर्मों का लाभ नहीं उठाना चाहिए। जो लोग केवल स्वयं के लिए ही पकाते हैं वे तो पापों को ही खाते हैं। स्वयं के लिए धन संग्रह करना भी इसी कोटि में आता है। आत्मकेन्द्रित इच्छाओं से अपने को ऊपर उठाकर ही मनुष्य संपूर्ण जगत के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है, तभी वह अपनी दुर्बलताओं व दुख से मुक्त हो दिव्यता से युक्त हो सकता है। कर्मों से अंहकार व स्वार्थ का त्याग ही व्यक्तिगत सामाजिक जीवन का आदर्श है।

पूर्ण पुरुष की आत्मा जगत में लोककल्याण के लिए कार्य कर रही है। पुण्यात्मा व्यक्ति को भी इसमें सहयोग करना चाहिये तथा लोक के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया निष्काम कर्म लोकसंग्रह है। यह स्वार्थ से परार्थ की ओर मनुष्य को ले जाता है। मनुष्य का सारा भाव, ज्ञान, संकल्प, प्रवृत्ति सब ईश्वरीय हो जाते हैं। वह स्व से उपर उठकर “सर्वभूत हिते रताः” की अवस्था में पहुंच जाता है और लोक ही, लोकरक्षार्थ, लोकसंग्रह के लिए कार्य करने वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

लग जाता है। लोकसंग्रही स्थितप्रज्ञ गुणातीत व्यक्ति कर्तव्य बुद्धि से कर्म करता है। गीता का लोकसंग्रह आत्मसुख के लिए नहीं है। इसका नैतिक मूल्य दूसरों की सेवा है जो ईश्वर सेवा है। इससे व्यक्ति पूर्णता, स्वतंत्रता, आप्तकामना प्राप्त करता है। इससे समाज की सुरक्षा, सामाजिक पूर्णता, सामाजिक कल्याण अर्थात् लोककल्याण भी होता है। स्थितप्रज्ञ, गुणातीत की अवस्था को व्यक्ति निष्काम की स्थिति से प्राप्त करता है और लोकसंग्रह के द्वारा वह सामाजिक नैतिकता की पूर्णता प्राप्त करता है। निष्काम भाव को प्राप्त हुए बिना लोकसंग्रह का कार्य नहीं किया जा सकता। लोकसंग्रही वही हो सकता है जो गुणातीत या स्थितप्रज्ञ है।

लोकसंग्रह का अर्थ पूरे विश्व का एकीकरण, संवर्धन तथा प्रोन्नयन है। लोक का अर्थ है पूरा विश्व जिसमें सभी प्रकार के जीव सम्मिलित है तथा संग्रह का अर्थ है संगठित। लोक को सुगठित एवं सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए कर्म करते रहना जरूरी है। गीता के अध्याय तीन के 25वें श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं, जिस प्रकार लोग कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं उसी तरह विद्वान् जन कर्म में अनासक्त होकर लोक संग्रह के लिए कार्य करते हैं जैसे जनक आदि। मनुष्य को लोकसंग्रह को देखते हुए कर्म करना चाहिए क्योंकि अध्याय 3 के श्लोक 4 में कहा गया है :-

न कर्मणामनारम्भ नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

न तो कर्म से विमुख होकर कोई कर्मफल से छुटकारा पा सकता है और न केवल सन्यास से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

लोक संग्रह को सर्वभूतहितत्व के द्वारा ही संभव बनाया जा सकता है। गीता में स्पष्ट कहा गया है परमसिद्धि सर्वभूतों के हित में रत रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। जो सभी भूतों के हित में रमे रहते हैं वे ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। (5/25) 1 वे लोग जो इन्द्रिय समूह को अच्छी तरह नियमित करके सभी जीवों के प्रति समान बुद्धि वाले तथा सबों के हित में रहने वाले होते हैं वे मुझे ही यानि कृष्ण को ही, ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं। परमसिद्धि को प्राप्त करने के लिए एक अत्यंत आवश्यक तरीका सर्वभूतहित ही है। सर्वभूत में सभी प्रकार के पदार्थ आ जाते हैं, मनुष्य वर्ग, पशु वर्ग, वनस्पति वर्ग तथा जड पदार्थ वर्ग। ये सभी एक ही लोक के अंग हैं। इसलिए उनके हितों की सिद्धि होने से लोकहित या लोक कल्याण ही सिद्ध होता है और इस लोक कल्याण का सिद्ध होना ही लोकसंग्रह है।

डॉ. राधाकृष्णन ने गीता के तीसरे अध्याय के 20वें श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि किसी भी धर्म का उद्देश्य समाज को आध्यात्मिक बनाना है, पृथ्वी पर भ्रातृत्व स्थापित करता है।

कर्मणैव हिंसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पञ्चन्कर्तुमर्हसि॥ (अध्याय 3/20)

जनक जैसे राजाओं ने केवल नियत कर्मों को करने से ही सिद्धि प्राप्त की। अतः सामान्य जनों को शिक्षित करने की दृष्टि से तुम्हें कर्म करना चाहिए।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरा।

असक्तो ह्यचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥ (अध्याय 3/19)

अतः कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरंतर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से उसे परब्रह्म (परम) की प्राप्ति होती है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त्वेतरो जनाः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्ततदनुवर्तते॥ (3/21)

महापुरुष जो आचरण करता है सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुकरणीय कार्यों से जो आदर्श प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।

लोकसंग्रह का अर्थ लोक शिक्षण भी है। उच्च स्तरीय साधक अपने अंदर की पूर्णता से तृप्त होकर लोकसंग्रह के लिए प्रत्येक कर्म करता है। जो ईश्वर से तादात्म्य करना चाहता है वह समाज से दूर रहकर यह कार्य नहीं कर सकता। समाज प्रत्यक्ष ईश्वर है। समाज मनुष्य से बना है, सब प्राणियों को अपने में देखना व अपने को सबमें देखना उनसे तादात्म्य स्थापित करना यही ईश्वरत्व है, यही दिव्यता है, यही मोक्ष है। मुक्ति का द्वार लोक संग्रह है क्योंकि लोकसंग्रह के कार्य में अंहकार और स्वार्थ दोनों का ही त्याग होता है स्वार्थ से परार्थ की ओर गमन होता है, निकृष्टता से उत्कृष्टता की ओर गमन होता है। और यही कर्मयोग है ज्ञानी लोग लोकसंग्रह के लिए कार्य करते हैं। पूर्ण पुरुष की आत्मा जगत में कार्य कर रही है। ज्ञानी, पुण्यात्म को इसमें सहयोग करना चाहिए। कर्म सन्यास, कर्म त्याग नहीं वरन् कर्मयोग ही ज्ञानी व्यक्ति को करना चाहिए यही लोकसंग्रह है, यही जीवन का लक्ष्य है। आज समाज को ऐसे ही कर्मयोगी लोकसंग्रही व्यक्तियों की आवश्यकता है जो सर्वहित में कार्य कर सर्वमंगल व सर्वकल्याण को समाज में स्थापित करें।

संदर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, कृष्ण कृपा मूर्ति, भक्ति वेदांत बुक ट्रस्ट, हरे कृष्णधाम, जूहू मुंबई 400049
2. श्रीमद्भगवद्गीता - राधाकृष्णन- हिन्दू पोकेट बुक्स, जी.टी. रोड, दिलशाद गार्डन, शाहदरा, दिल्ली - 110095
3. श्रीमद्भगवद्गीता - स्वामी चिन्मयानन्द - सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, 111/477, ब्रह्म नगर कानपुर - 208012

विभागाध्यक्ष
दर्शन शास्त्र विभाग
दुर्गा महाविद्यालय रायपुर (छ.ग.)

गीता और सार्त्र के दर्शन में: नैतिकता और निर्णय

चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह

दार्शनिक नहीं होने पर भी साधारण व्यक्ति के रूप में मन में ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान दार्शनिक ही कर सकते हैं। प्रस्तुत लेख में अपनी बात कहने के लिए मैं दो ऐसे दार्शनिकों का उल्लेख करना चाहूँगा जिनमें से एक का सम्बन्ध पश्चिम की दर्शन परम्परा से है तथा दूसरे का पूर्व की दर्शन परम्परा से है। ये दार्शनिक हैं सार्त्र और कृष्ण।

सार्त्र मनुष्य की स्वतंत्रता को उसके अस्तित्व के साथ जोड़कर यह स्थापित करते हैं कि मनुष्य अन्ततः मनुष्य ही है वह स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है तथा वह अपना भविष्य निर्माता स्वयं है। वह जो भी है: जैसे भी है उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। अपने उपन्यास 'नाँसिया' में नायक रेकान्ते के माध्यम द्वारा आज के मानव का चित्र प्रस्तुत किया है: भय, चिन्ता, निराशा, एकांकीपन, हताशा, टूटन, अलगाव, ऊब, अनिर्णय आदि धारणाओं मनुष्य के जीवन के अभिन्न अंग हैं। सार्त्र 'मानव-अस्तित्व' के केन्द्रित रखकर अपने उपन्यास 'नाँसिया' में रेकान्ते नामक नायक द्वारा मानव जाति का मार्गदर्शक बनना चाहते हैं।

वहीं गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से जाता है और अर्जुन ने देखा कि उसके सामने उसके पिता, दादा, गुरु, मामा, भाई, पुत्र और पौत्र तथा मित्र सभी सगे-सम्बन्धी खड़े हैं। अर्जुन के सामने यह प्रश्न था कि जिस युद्ध में मेरे अपने लोगों का वध करना पड़ेगा उसमें भाग लेना उचित है या नहीं। यह संकट का काल अर्जुन को गहरी चिन्ता में डाल देता है। अर्जुन की भी स्थिति: भय, चिन्ता, टूटन, अलगाव, अवसाद, ऊब, अनिर्णय आदि धारणाओं से ग्रस्त हो जाती है। कृष्ण अर्जुन के द्वारा मानव जाति के पथ-प्रदर्शक बनते हैं।

सार्त्र का मानव स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व के लिये मानव जाति को प्रोत्साहित करता है तो वहीं दूसरी तरफ गीता का मानव कर्तव्य करने के लिये मानव जाति का आदर्श बन जाता है।

सामान्यतया इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका अपने से भिन्न व्यक्तियों के साथ अटूट संबंध होता है।

मनुष्य के सामाजिक संबंधों के संदर्भ में नैतिकता आवश्यक है। सामाजिक होने का अर्थ ही है, कतिपय नैतिक दायित्वों (नैतिक मूल्यों) को स्वीकार करना। इन नैतिक मूल्यों के संबंध में गीता और अस्तित्ववाद के भिन्न-भिन्न मत हैं।

सार्त्र के अनुसार 'अस्तित्ववाद मानववाद है।'²⁴ 'मानववादी नीतिशास्त्र मनुष्य की व्यष्टिता एवं स्वातंत्र्य का नीतिशास्त्र है। इसके अनुसार मूल्यों का कोई प्रागनुभविक एवं अनुभवातीत स्रोत नहीं होता, नैतिकता का कोई पूर्वप्रदत्त मानदण्ड नहीं होता। नैतिक मूल्यों के प्रागनुभविक स्रोत को स्वीकार करना मनुष्य की क्षमता, मौलिकता एवं सर्जनात्मकता पर अविश्वास करना है और यह मानना है कि स्वतः नैतिक आचरण करने में अक्षम मनुष्य नैतिक आचरण इसलिए करता है क्योंकि वह या तो अपने पूर्वनिर्मित स्वभाव के नाते अथवा किसी अलौकिक शक्ति के शाश्वत आदेशों के नाते ऐसा करने के लिए विवश है।'²⁵ सार्त्र के मानववाद में मानव-स्वभाव पूर्वनिर्मित नहीं है वह निरन्तर निमार्णाधीन है। अपने एकाकीपन में मनुष्य नियमों, मूल्यों एवं नैतिक प्रतिमानों का स्रष्टा है।

सार्त्र अपनी पुस्तक 'एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म' में मूल्यों के प्रश्नों पर काफी विस्तार से विचार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य पूर्व-निर्धारित मूल्यों से स्वतंत्र है। मनुष्य के चुनाव से पूर्व कोई मूल्य नहीं होते। मनुष्य का अपना चुनाव ही मूल्यों को परिभाषित करता है। मनुष्य को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपने मूल्यों का स्वयं निर्माण करना है।

सार्त्र कहते हैं कि 'यह जानते हुए कि मनुष्य स्वतंत्र है और कोई ऐसी मानवीय प्रकृति नहीं है, जिसे बुनियादी समझा जा सके। मैं इन्सानी अच्छाई पर या समाज कल्याण में मानवीय रुचि आदि बातों पर अपने विश्वास की नींव खड़ी नहीं कर सकता।'²⁶

वस्तुतः सार्त्र का नीतिशास्त्र 'पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण उत्तरदायित्व का नीतिशास्त्र है। सार्त्र का मत है कि स्वतंत्रता ही सब मूल्यों का एकमात्र आधार है और हमारे द्वारा किसी भी मूल्य के औचित्य को अन्यत्र खोजने का प्रयास बेमानी है। स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण परिणाम उत्तरदायित्व है। मेरा चुनाव केवल मेरा अपना है किसी अन्य द्वारा नियन्त्रित नहीं। किन्तु मेरे चुनाव का संबंध केवल मुझसे नहीं है। उसका संबंध सम्पूर्ण मानवता से है (मनुष्य जहां अपने प्रति जिम्मेदार है, वहीं विश्व के प्रति भी जिम्मेदार है।) अपने चुनाव द्वारा मैं मूल्यों की रचना करता हूँ जिसके लिए उत्तरदायित्व केवल मेरा है। यही उत्तरदायित्व की भावना मेरे भीतर परिताप उत्पन्न करती है।

गीता मूलतः उपनिषदों पर आधारित होने के कारण उन सभी नैतिक तथा समाज, धर्म एवं दर्शन

दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार करती है, जिनका विवेचन उपनिषदों में किया गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि गीता में व्यक्त नैतिक दर्शन मूलतः उपनिषदों के नैतिक दर्शन की भांति अध्यात्मवादी है। गीता में वर्णव्यवस्था, मानव जीवन के पुरुषार्थ, कर्मवाद आदि के साथ ही आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

अर्जुन के सामने यह प्रश्न था कि जिस युद्ध में गुरुजनों, बंधु - बांधवादि का वध करना पड़ेगा, उसमें भाग लेना उचित है या नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रारंभ ही एक ऐसी पूर्वपीठिका से होता है, जहाँ कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कौरवों तथा पांडवों की बृहत् सेनाएँ युद्ध के लिए एक दूसरे के समक्ष खड़ी हैं। अर्जुन भी अपने श्वेताश्व रथ, जिसका संचालन सारथी बने भगवान् श्रीकृष्ण कर रहे थे, पर आसीन होकर युद्ध क्षेत्र में प्रवेश करता है। अर्जुन युद्ध-स्थल पर धर्म एवं न्याय की पुनः प्रतिष्ठा और और अन्याय तथा अधर्म की समाप्ति हेतु एक संकल्प के साथ आया था। और युद्ध में अपनी विजय के प्रति पूर्णतया आश्वस्त भी था। किन्तु जब दोनों ओर की सेनाओं की ओर दृष्टिपात करता है तो उसे चारों ओर स्वजन, गुरुजन और आत्मीय मित्र दिखाई पड़ते हैं और वह उनकी संभावित मृत्यु के विचार से विचलित हो जाता है। उसका मन उन सबके लिए करुणा से अभिभूत हो जाता है। उसे स्वजनों को मारकर विजयोपरान्त राज्य व सुखों की प्राप्ति वरणीय नहीं लगती। वह श्रीकृष्ण से कहता है कि -

न चैतद्विमः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

यानेव हत्वा न जिजीविशामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥¹³

‘हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें- इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौनसी है। यह भी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मार कर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं, वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं।’ वह यह भी विचार करता है कि जो लोग कुल-धर्म का विनाश करते हैं, वे सदैव नरक में वास करते हैं। इस प्रकार शोक से व्यथित-चित्त अर्जुन को युद्ध एवं विनाश की अनिवार्यता किसी भी दृष्टि से स्वीकरणीय नहीं लगती।

क्षात्र धर्म और बंधु प्रेम, परस्पर विरुद्ध दो धर्मों की उलझन में फंस जाने के कारण अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। एक ओर तो क्षत्रिय का स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एवं कुलक्षय के पातकों का भय-इस खींचातानी में वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि ‘युद्ध करे या ना करे’, ‘हत्या करे या न करे’, ‘कर्मयोगी बने या संन्यासी’। इस प्रकार द्वैविध्य में पड़ा अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि -

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्याच्छ्रितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥¹⁴

‘दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई, मुझे अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य का मन में मोह हो गया है, इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागत को समझाओ।’

इस प्रकार व्यामोह ग्रस्त अर्जुन एक ऐसे मोड़ पर आ खड़ा हुआ था, जहाँ उसे अपने कर्तव्य की दिशा अज्ञात थी और किसी भी अनिश्चित दिशा की ओर चल पडने के लिए वह प्रस्तुत नहीं था। अर्जुन का मन विशद, दैन्य, दुश्चिन्ता और हताशा से घिरा हुआ था। तब अर्जुन को तीव्र नैतिक अन्तर्द्वन्द्व और किंकर्तव्यविमूढता की इस विषम परिस्थिति में पाकर श्रीकृष्ण उसका मार्गदर्शन करते हैं। वे कहते हैं कि -

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥¹⁵

‘इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि क्या कर्म है और क्या अकर्म; (अतएव) वैसा कर्म तुम्हें बतलाता हूँ कि जिसे जान लेने से तुम पाप से मुक्त हो जाओगे’। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण उसे जगत् में उसके सच्चे कर्तव्य का सविस्तार उपदेश करते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है कि “गीता का सूत्रपात ही एक संघर्षजनित नैतिक समस्या से हुआ है। हम देखते हैं, उस संघर्ष में एक ओर तो है कर्मी पुरुष का धर्म, राजपुत्र, वीर, एवं जननेता का धर्म। इस धर्म की दृष्टि से जाति की भवितव्यता की उस नेता से यह मांग है कि वह अवश्यमेव प्रतिरोध करे, शत्रु पर आक्रमण करे और सत्य, धर्म एवं न्याय का नवीन युग और राज्य स्थापित करे। भले ही उसे इसके लिए कैसा भी भीषण स्थूल संग्राम एवं घोर संहार क्यों न करना पड़े। परन्तु इसके दूसरी ओर है नैतिक बुद्धि, जो इस उपाय तथा कर्म को पाप कहकर दूषित ठहराती है और ऐसा समझती है कि हिंसा तथा युद्ध से उपरति ही एकमात्र मार्ग है, तथा यही शुद्ध नैतिक वृत्ति है।”

ऐसे परस्पर - विरुद्ध नीति - धर्मों की उलझन फंस जाने के कारण अर्जुन कोई निर्णय नहीं कर पा रहा था। वैसे अर्जुन के समक्ष कर्म - अकर्म या धर्म - अधर्म के विषय में यह जो कठिनाई आई, वह कुछ विलक्षण नहीं है। इस संसार में ऐसी कठिनाईयां साधारण मनुष्यों से लेकर बड़े से बड़े विद्वानों पर अनेक बार आया करती हैं। ऐसे विकट समय पर यह जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है कि कर्तव्य - अकर्तव्य या धर्म का निर्णय कैसे हो। ऐसे में गीता ‘कार्य-अकार्य - व्यवस्थिति’ का

अर्थात् कर्तव्य - अकर्तव्य का बोध कराने वाली है। गीता में कर्तव्य - अकर्तव्य, शुभ - अशुभ, नैतिक - अनैतिक, हितकर - अहितकर, श्रेयस्कर - अश्रेयस्कर, धर्म - अधर्म, न्याय - अन्याय के संबंध में सूक्ष्म विचार हुआ है। यह भी विचारणीय है कि गीता में 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है।

गीता के अनुसार मनुष्य के करणीय कर्म उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, रूचि और क्षमताओं के द्वारा ही निर्धारित होने चाहिए। इसी कारण गीता में वर्णाश्रम - धर्म के अनुसार स्वधर्म पालन को विशेष महत्व दिया गया है। गीता कहती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म उनकी अपनी - अपनी आभ्यंतरिक प्रकृति, आध्यात्मिक चरित्र एवं मूल स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् नियत हैं। प्रत्येक व्यक्ति को उन सभी कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए, जिनका पालन करना उसके वर्ण - धर्म की दृष्टि से अनिवार्य है। जब मनुष्य कर्म की सच्ची भावना के साथ तथा अपनी निज प्रकृति के विधान (स्वधर्म) के अनुकूल कर्म करता है तो उसे कोई पाप या कलंक नहीं लगता। इससे तो वह आध्यात्मिक - सिद्धि ही प्राप्त करता है।

गीता में प्रतिपादित नीति - धर्म का मुख्य तात्पर्य यही है कि जो कुछ कर्तव्य - कर्म शास्त्रतः निर्दिष्ट हों, उन्हें निष्काम और सम बुद्धि से लोक - संग्रह हेतु (संसार के धारण - पोषण के लिए) जीवन-पर्यन्त करना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को सभी परिस्थितियों में निःस्वार्थभाव से तथा निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार सार्त्र के दर्शन में, जो कर्म, उतरदायित्व और प्रतिबद्धता का दर्शन है नैतिक अभिकर्ता को अपने चित्र का निर्माण स्वयं करना है। अपने कर्मों के लिए उसे अपनी स्थिति से बाहर कोई दिशा निर्देश उपलब्ध होने वाला नहीं। मनुष्य की इस आत्मप्रतिबद्धता के लिए कोई सैद्धान्तिक मूल्य - संहिता भी नहीं। गीता के समान यहाँ पथ-प्रदर्शन हेतु स्वधर्म जैसी कोई आचरणात्मक एवं नियामक व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। मूल्यों का कोई स्वीकृत सिद्धान्त भी नहीं है, जो क्षण - क्षण परिवर्तित परिवेश में मानव का दिशा-निर्देश करे।

वस्तुतः अस्तित्ववाद के नैतिकता संबंधी विचार इसकी मूलभूत अस्तित्ववादी अवधारणा पर ही आधारित है। अस्तित्ववाद के अनुसार बच्चा जन्म के साथ कोई नैतिक मूल्य (पूर्व निर्धारित प्रत्ययों या आदर्शों के रूप में) लेकर नहीं आता। वह केवल अस्तित्व को लेकर आता है। अस्तित्ववाद की भाषा में इसे कहें तो सार (मूल्य) अस्तित्व से पूर्व नहीं होते। इन्हें अस्तित्व ही निर्धारित करता है। जब व्यक्ति अन्य पुरुषों या समाज के साथ संबंध जोड़ता है तो उसमें नैतिक बोध पैदा होता है।

सामान्यतया नैतिक मूल्यों को समाज या वातावरण निश्चित करता है और ये मूल्य व्यक्ति के परम मूल्यों (आत्मा के स्वभाव - स्वतंत्रता, समता आदि) के विरुद्ध जाते हैं। अस्तित्ववाद ऐसे ही नैतिक मूल्यों के खिलाफ विद्रोह है, जिन्हें समाज बहुधा व्यक्ति के निरपेक्ष अधिकारों की पूर्णतया अनदेखी करके मनमाने ढंग से तय कर देता है। अस्तित्ववाद तो व्यक्ति की स्वतंत्रता, समता के मूल्यों को परम मूल्य या निरपेक्ष मूल्य मानता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के बिना या स्वतंत्रता से उत्पन्न वेदना से बचने के लिए समाज द्वारा तय किए गए मूल्यों को स्वीकार करता है तो यह सार्त्र के शब्दों में दुर्निष्ठा (बैडफेथ) और हाइडेगर के शब्दों में अप्रामाणिक जीवन है।

यह भी विचारणीय है कि अस्तित्ववाद के विरुद्ध अनेक आलोचक अनैतिकता के प्रचार-प्रसार का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः अस्तित्ववाद मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा और स्वतंत्र कर्म को इतना महत्व देता है कि अस्तित्ववादी साहित्य के पात्र स्थितियों के दबाव से मुक्त होकर अचानक कुछ अप्रत्याशित काम करते हैं, जो सतही ढंग से सोचने वाले लोगों को अनैतिक लगते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अस्तित्ववाद नैतिकता - विरोधी दर्शन है। वस्तुतः अस्तित्ववाद का विरोध अपने ऊपर आरोपित या बाहर से थोपी जाने वाली नैतिकता से है। यह उस नैतिकता को नैतिकता नहीं मानता, जिसे मनुष्य अपने स्वतंत्र चुनाव द्वारा नहीं अपनाता। अस्तित्ववाद के अनुसार तो स्वतंत्रता ही सभी नैतिक मूल्यों का उत्स है। स्वतंत्रता मानव - चेतना का स्वभाव है और इसी से तमाम नैतिक मूल्य निर्धारित होते हैं। नैतिकता के संबंध में यह धारणा क्रांतिकारी है। इसमें यह अभिप्राय निहित है कि जो कर्म हमें स्वतंत्रता की ओर ले जाए, वह नैतिक, और जो उससे विमुख करे, वह अनैतिक है।

अस्तित्ववाद में भी किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति का विशद विवेचन उपलब्ध है। यूँ तो काफ़का व कामू की रचनाओं में इस किंकर्तव्यविमूढता के अनेक उदाहरण संप्राप्त हैं, किंतु इस विषय का सैद्धान्तिक तथा रचनात्मक चित्रण सार्त्र की कृतियों तथा उनके उपन्यासों में मिलता है।

सार्त्र के दार्शनिक चिंतन व रचनाओं में इसी प्रकार की किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति, चयनगत स्वातंत्र्य के संबंध में निरूपित हुई है। सार्त्र के मतानुसार मानव को जगत् में रहकर कर्म करना है, किंतु विभिन्न कारणों से किन्हीं दो कर्मों में से किसी एक का चयन करना दुष्कर हो जाता है। यदि मानव को ईश्वर, गुरु, माता-पिता या मित्र बंधुओं में से कोई भी इस संबंध में आदेश दे, तो मानव के लिए अत्यंत सुविधाजनक हो जाता है, क्योंकि तब उसे स्वयं निर्णय नहीं करना पड़ता। वस्तुतः

निर्णयकर्ता को निर्णयजनित परिणामों की वास्तविकता या पूर्वानुमान से चिन्ता, भय, नैराश्य, स्वयं में अक्षमता आदि की अनुभूति हो सकती है। अतः मानव चाहता है कि उसे स्वयं निर्णय न करना पड़े और उसकी समस्या का समाधान कोई अन्य कर दे।

सार्त्र के मतानुसार चयनगत स्वातंत्र्य के साथ एक प्रकार की बाध्यता भी जुड़ी होती है। निर्णय तो मनुष्य को करना ही है साथ ही चुनाव और निर्णय करने की स्थिति में वह नितान्त अकेला भी है। ऐसे में अस्तित्ववाद में चयनगत स्वातंत्र्य के संबंध में किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति के अनेक उदाहरण संप्राप्त हैं। इनमें से एक सार्त्र द्वारा दिया गया अपने एक विद्यार्थी का उदाहरण है। जो सार्त्र के पास यह सलाह लेने के लिए आता है कि उसे क्या करना चाहिए। उसका बड़ा भाई जर्मनों से युद्ध करते हुए मारा जा चुका है। वह नौजवान विद्यार्थी इसका बदला लेना चाहता है। वह जर्मनों से लड़ने के लिए जाना चाहता है लेकिन उसकी माँ नहीं चाहती कि उसका दूसरा बेटा भी युद्ध में मारा जाये। ऐसी स्थिति में वह यह निर्णय नहीं ले पा रहा है कि वह युद्ध में भाग लेने जाये या अपनी माँ के साथ रहे। इस कारण वह एक गहरे द्वन्द्व और यातना से गुजर रहा है। वह नहीं जानता कि क्या करे और क्या न करे या उसे किसके पक्ष में निर्णय लेना चाहिए? एक का संबंध व्यक्ति के पक्ष में निर्णय लेने से है और दूसरे का समूह या देश के पक्ष में। एक का संबंध स्नेह से है और दूसरे का संबंध कर्तव्य से। इस प्रकार यह दो मूल्यों के बीच का द्वन्द्व है। एक वैयक्तिक मूल्य है, दूसरा सामाजिक। उसके समक्ष दुविधा उन दोनों मूल्यों के बीच चयन को लेकर है।

इसी प्रकार सार्त्र के उपन्यास के नायक मैथ्यूज के सम्मुख यह दुविधा है कि वह अपनी प्रेयसी मार्शल का गर्भपात करवाये या उससे विवाह करे। गर्भपात करवाने के लिए उसके पास पैसा नहीं है और मार्शल से विवाह करने का अर्थ है एक अन्य प्रेमिका (इविच) से वंचित हो जाना। वस्तुतः यहाँ मुख्य दुविधा तो विवाह करने या न करने के मध्य है। वह चाहता है कि मार्शल से संबंध भी रखे और उससे विवाह भी न करे। साथ ही न तो वह इविच से विवाह करना चाहता है और न ही उसे छोड़ना चाहता है। इस प्रकार मैथ्यू अनेकविध दुविधाओं से ग्रस्त है।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज नाटककार शेक्सपियर के नाटक 'हैमलेट' का नायक भी एक ऐसी दुःस्थिति का सामना करता है जहाँ उसे जीने या मरने में से किसी एक का वरण करना है। डेन्मार्क देश के प्राचीन राजपुत्र हैमलेट के चाचा ने, राज्यकर्ता अपने भाई हैमलेट के बाप को मार डाला, हैमलेट की माता को अपनी स्त्री बना लिया और राजगद्दी भी छीन ली। तब उस राजकुमार के मन में यह प्रश्न पैदा हुआ

कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पिता के ऋण से मुक्त हो जाऊँ, अथवा अपने सगे चाचा, अपनी माता के पति और गद्दी पर बैठे हुए राजा पर दया करूँ। इस दुविधा में पड़ जाने के कारण कोमल अंतःकरण के हैमलेट की कैसी दशा हुई, इसका बहुत अच्छी तरह चित्रण इस नाटक में किया गया है और अंत में 'जिये या मरे' इसी बात की चिन्ता करते करते उसका अन्त हो गया।

सामान्य जीवन में भी चौराहे पर खड़ा व्यक्ति कोई संकेत चिह्न न होने की स्थिति में ऐसे ही दुविधा से ग्रस्त हो जाता है कि वह स्वकीय गंतव्य की दिशा का निर्धारण कैसे करे? चयन तो उसे किसी मार्ग का करना ही पड़ेगा क्योंकि वहाँ खड़े रहने का तो कोई औचित्य नहीं। पर यह भी निश्चित है कि अन्य तीन मार्गों में से किसी एक का चयन उसे गलत मार्ग पर ले जा सकता है। वस्तुतः ऐसी स्थिति प्रायः समस्त मनुष्यों के सम्मुख प्रतिक्षण आती रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता में नैतिकता का तात्पर्य है, धार्मिक आचरण और अनैतिकता का तात्पर्य है, अधार्मिक आचरण। वहाँ अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना धर्म और इसके विपरीत कार्य अधर्म कहा गया है। इसके विपरीत अधर्म या अनैतिकता मानी गई है। अस्तित्ववाद परंपरागत या रूढिगत मूल्यों को अस्वीकार करके नवीन मानवीय मूल्यों पर बल देता है। उसे लादी हुई नैतिकता नहीं चाहिए। वह तो चयन-स्वातंत्र्य से संबद्ध मूल्यों और जीवन विकास की दिशा में सार्थक मूल्यों को ही स्वीकृति देता है।

संक्षेप में अर्जुन का द्वैविध्य और उससे उत्पन्न उसकी मनोव्यथा, अस्तित्ववाद के चयनगत द्वैविध्य और चयनगत स्वातंत्र्य से संप्राप्त मनोवेदना के सिद्धान्त से तुलनीय है। हाँ, यह अंतर अवश्य है कि गीता में तो अर्जुन को किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति से निकालने के लिए श्रीकृष्ण जैसा परामर्शदाता उपलब्ध है, किन्तु अस्तित्ववाद में श्रीकृष्ण के समान किसी मार्गदर्शक या हितकर्ता की व्यवस्था नहीं है। जैसा कि सार्त्र कहते हैं कि निर्णय और चयन तो मनुष्य को स्वयं करना होगा। इस संबंध में कोई उसकी सहायता नहीं कर सकता। अपने निर्णय में वह नितान्त स्वतंत्र और अकेला है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर
2. खेतान, प्रभा : 'अल्बेयर कामू: वह पहला आदमी', 'हिन्द पॉकेट बुक्स', 2004
3. : 'सार्त्र: शब्दों का मसीहा', हिन्द पॉकेट बुक्स, 1985

4. गाँधी, महात्मा : 'अनासक्ति योग'
5. चन्द्रा, शरद : 'अल्वैर कामू और भगवद्गीता', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
6. तिलक, बालगंगाधर : 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, अनुवादक - माधवराव सप्रे।
7. देवराज, नंदकिशोर : भारतीय दर्शन (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन) उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, 1999
8. मिश्र, हृदयनारायण और शुक्ल, प्रताप चन्द्र: 'अस्तित्ववाद', किताब घर, कानपुर, 1968
9. शर्मा, चन्द्रधर : 'भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन' मोतीलाल बनारसीदास, 1995
10. शाही, योगेन्द्र : 'अस्तित्ववाद :कीर्केगार्ड से कामू तक ग्रन्थलोक, दिल्ली, 2003
11. सक्सेना, लक्ष्मी : 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 2009
12. सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत : 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, द्वितीय संस्करण, 2002
13. सिंह, विजय मोहन : 'सार्त्र: असंभव विकल्पों की तलाश,' संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2008
14. सिंह, शिव प्रसाद : 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद' नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली,

डी.लिट्. (Pursuing)

डॉ. भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
ई-मेल.chandreshvarsingh@gmail.com

न्याय के राजनीतिक व दार्शनिक निहितार्थ

रूपम मिश्रा

मानवीय जीवन में हमें अनेक ऐसी विषमताएँ एवं विवशताएँ भुगतनी पड़ती हैं जिन्हें सहज रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता और अन्याय का अहसास मनुष्य के बहुत गहनता से होता है अन्याय का यही बोध हमें न्याय के प्रश्न पर सोचने को विवश करता है। न्याय क्या है? इसके दार्शनिक व राजनीति निहितार्थ क्या हैं? कोई भी सिद्धान्त न्यायपूर्ण कैसे बन सकता है? इन्हीं प्रश्नों पर हम अगले कुछ पृष्ठों में विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम इस प्रश्न पर चर्चा करेंगे कि न्याय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में राजनीतिशास्त्री सामान्यतः यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को समान मौलिक स्वतन्त्रता की एक पर्याप्त व्यवस्था पर समान अधिकार एवं सर्वसुलभ भेद-भाव मुक्त व्यवस्था ही न्याय है।¹ जान राल्स न्याय के विषय में कहते हैं कि सामाजिक और आर्थिक भेद दो ही स्थिति में स्वीकार किये जा सकते हैं पहला, जब इस भेद से सभी को समान अवसर देने वाली व्यवस्था पुष्ट होती हो और दूसरा इस भेद से समाज के सर्वाधिक पीड़ित एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों का अधिकतम हित-साधन हो सके। यहाँ स्वतन्त्रता को न्याय के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना गया। स्वतन्त्रता को किसी भी अन्य सुविधा व अधिकार से अधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। स्वतन्त्रता के साथ विवरणात्मक समता एवं असमानता की समाप्ति या उसे न्यूनतम करना भी न्याय को परिभाषित करता है।

इसके अतिरिक्त वस्तुपरकता भी न्याय के लिए अनिवार्य है अर्थात् सार्वजनिक विचार प्रक्रिया की रचना ऐसी होनी चाहिए कि तर्कों और साक्ष्यों के आधार पर विचार विमर्श एवं चिन्तन के पश्चात् निर्णय लिये जाये। जिससे निष्पक्षता स्थापित हो। न्याय एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। राजनीतिक अर्थों में न्याय का आशय सामान्यतः इससे लिया जाता है कि एक ऐसे समाज की स्थापना हो जहाँ समानता हो व भेदभावपूर्ण व्यवस्था की समाप्ति की जा सके जबकि दर्शनशास्त्र न्याय को

अत्यन्त वृहद रूप से व्याख्यायित करता है। दर्शन न्याय का अर्थ तर्क और प्रमाण के आधार पर सत्य की खोज को मानता है। जिसका लक्ष्य मनुष्य को उसके जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग करना है। न्याय दर्शन के तत्व प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि के आधार पर प्राप्त ज्ञान व्यक्ति के जीवन के अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति में सहयोग करता है। न्याय में तर्कशीलता, वस्तुनिष्ठता, समदर्शिता व दूरदर्शिता होनी चाहिए।

राजनीति में न्याय के विविध पक्षों पर सर्वाधिक विमर्श किया गया है। जिसमें विवरणीय न्याय, प्रक्रियात्मक न्याय, सुधारात्मक न्याय, सामाजिक न्याय पर सबसे अधिक बात की जाती है। एक क्षमतावान न्याय सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति को समाज में स्थान दिलाने के लिए प्रयासरत होता है। इसी दिशा में वितरणीय न्याय की अवधारणा की व्याख्या की जाती है। वितरणीय न्याय से तात्पर्य यह है कि संसाधनों का वितरण इस तरह किया जाए समाज के सर्वाधिक जन अभावग्रस्त वर्ग तक संसाधनों की अचेत पहुँच सुनिश्चित की जा सके। हीनतम को अधिकतम का सिद्धान्त इसकी सबसे अच्छी अभिव्यक्ति करते हैं। गौतम बुद्ध इस विषय में कहते थे कि कई बार अन्य लोगो से अधिक क्षमतावान होने के कारण हमारा उनके प्रति विशेष लगाव होता है। अपने दायित्व की पूर्ति द्वारा हम न्याय की प्राप्ति में सहायक बन सकते हैं। द्वितीय, प्रक्रियात्मक न्याय अर्थात् न्याय की प्रक्रिया निष्पक्ष व पारदर्शी हो अन्यायपूर्ण व्यवस्था या अन्यायी व्यक्ति के लिए दण्ड की समुचित व्यवस्था हो जिससे अन्याय व उत्पीड़न कम हो तथा समाज में व्याप्त अन्याय को समाप्त करने हेतु सुधारात्मक कदम उठाये जा सके। प्रक्रियात्मक न्याय ही सामाजिक न्याय की स्थापना का सबसे बड़ा उपकरण है। सामाजिक न्याय समाज के सभी वर्गों को अवसर व अधिकार दिलाने की बात पर बल देता है।

न्याय के ये सभी प्रकार कहीं न कहीं इस तथ्य द्वारा पोषित होते हैं कि न्याय प्राप्ति के सार्वभौमिक साधनों की व्यवस्था स्थापित है। न्याय प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कुछ साधन निश्चित किये जायें।² अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक 'न्याय का स्वरूप' में न्याय प्राप्ति के साधनों पर विस्तार से चर्चा की है। जिसमें सबसे महत्वपूर्ण साधन है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता को इसलिए अत्यन्त अनिवार्य माना जाता है क्योंकि यह हमें अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अधिक अवसर प्रदान करती है तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले अवरोधों से रक्षा करती है। चयन की स्वतंत्रता द्वारा हम अपने स्वयं के निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। यदि अवसर व प्रक्रिया दोनों की स्वतंत्रता नहीं मिलती तो यह सीमित रह जाती है और व्यक्ति अपने मनोवांछित परिणाम प्राप्त नहीं कर पाता।

न्याय की स्थापना हेतु सामर्थ्य विकास को भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सामर्थ्य से तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति की वह कार्य कर पाने की क्षमता है जिसे करना वह महत्वपूर्ण मानता है। इसके अनेक रूप हैं। अल्प विकसित समाजों में लोगों के पास न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रखने, शिक्षा स्वास्थ्य सेवा प्राप्त करने का भी सामर्थ्य कम है। अपने चयन, रुचि, व संस्कृति के अनुरूप उत्तम जीवन जीने की छूट व सामर्थ्य कम है। अपने चयन, रुचि व संस्कृति के अनुरूप उत्तम जीवन जीने की छूट व सामर्थ्य का होना न्याय के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अन्याय के खिलाफ सार्वजनिक संवाद, चर्चा व लोकमत तथा तर्क का भी न्याय की स्थापना में महत्व है। सार्वजनिक संवाद के माध्यम से समाज की अनेक समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है और उसके निराकरण के विकल्प स्पष्ट होते हैं। जैसे लिंग भेद की समस्या पर विचार विमर्श से अनेक समस्याओं का समाधान हुआ। सार्वजनिक तर्क, प्रत्यक्ष प्रमाण व अनुमान के माध्यम से न्याय विकसित होता है। न्याय किसी संस्था, निगम या व्यक्ति द्वारा आरोपित नहीं किया जा सकता बल्कि यह लोगों की क्षमता के साथ स्वतः विकसित होता है। समाज में अवसरों के वितरण में समानता हो तथा व्यक्ति बहुआयामी (आर्थिक व राजनीतिक) गतिविधियों में सहभागिता को स्वतन्त्र हो तो न्याय की स्थापना की ओर बढ़ा जा सकता है। न्याय के वर्तमान बाजारवाद, वैश्वीकरण व सामाजिक समेकन के साथ समायोजित किये जाने की महती आवश्यकता है। नीतियों के निर्माण में न सिर्फ इसके राजनीतिक अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए बल्कि इसके सार्वजनिक निहितार्थों को भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

प्रायः अन्याय का सम्बन्ध रूढ़ सामाजिक विभाजन से होता है। ये वर्ग लिंग समाज में स्थान भौतिक परिवेश, धर्म, समुदाय आदि पर आधारित होते हैं। क्या होना चाहिए इसका तर्कशील विश्लेषण करने के लिए उपरोक्त रूढ़िगत बाधाओं को दूर करना जरूरी है क्योंकि इनके उन्मूलन या समीक्षा के बिना न्याय की स्थापना संभव नहीं है। न्याय को किस तरह स्थापित किया या बढ़ाया जा सकता है इस निष्कर्ष पर तभी पहुँचा जा सकता है जब एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाए जो अन्याय की पहचान और उसके उन्मूलन की बात को स्वीकार करे। तर्क व सार्वजनिक संवाद व प्रत्यक्ष अनुभव न्याय के प्रेरक के रूप में स्थापित होते हैं। परन्तु मात्र न्याय होना ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि न्याय होते हुए भी दिखना चाहिए क्योंकि सार्वजनिक तर्क और प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा लोगों को न्याय का

न्याय के राजनीतिक व दार्शनिक निहितार्थ

[123]

अनुभव होना चाहिए। यदि निर्णय एवं नीतियाँ विश्वस्त लगें और लोक हित के विषय में अधिकांश लोग उस पर सहमत हो जायेंगे तब न्याय को समझ पाना आसान हो जाता है। किसी पूर्णतः न्यायनिष्ठ समाज की रचना की अनुभवातीत धारणा (यदि उसकी पहचान सम्भव हो जाये) तो समाज को आदर्श स्वरूप प्रदान करने के लिए पुनः अन्य उपायों की माँग करेगी।

सन्दर्भ

1. न्याय का स्वरूप: अमर्त्य सेन, राजपाल पब्लिकेशन: 2010
2. 'जस्टिस एंड फेयरनेस': जान राल्स (संपादक) सरिनकेली: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: 2001
3. न्याय का सिद्धान्त: जान राल्स (अनु.) कमल नयन चैबे: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
4. न्याय दर्शन: गुरुदत्त: हिन्दी साहित्यसदन :2019

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान
जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकता: गांधी के समाज-दर्शन की दार्शनिक दृष्टि से

अजय कुमार

शोध- सारांश

आज के युग में आधुनिकता की तीव्र गति ने समाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को गहन परिवर्तन के दौर में प्रवेश कराया है। तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण ने जीवन को सुविधाजनक और तेज़ बना दिया है, किन्तु इसके साथ ही नैतिक क्षरण, सामाजिक असमानता और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ भी प्रबल हुई हैं। गांधी के समाज दर्शन में यह स्पष्ट दृष्टि प्राप्त होती है कि मानव जीवन की प्रगति केवल भौतिक संपन्नता और गति में नहीं, बल्कि नैतिकता, सहिष्णुता और सामूहिक जिम्मेदारी में निहित है। गांधी के अनुसार, सत्य और अहिंसा केवल व्यक्तिगत नैतिकता का आधार नहीं हैं, बल्कि सामाजिक संबंधों और सामूहिक जीवन की नैतिक संरचना का मूल हैं। आधुनिक संस्कृति की तेज़ी और भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ, जब नैतिक चेतना के बिना अपनाई जाती हैं, तो समाज में विसंगति, अपव्यय और असंतोष उत्पन्न करती हैं। गांधी का साधारण जीवन, स्वावलंबन और ग्राम आधारित समाज इस दृष्टि से प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे समाज को मानवीय मूल्यों और नैतिक जिम्मेदारियों से जोड़ते हैं। दार्शनिक दृष्टि से गांधी का समाज दर्शन एक नैतिक पुनरुत्थान का संदेश देता है, जहाँ व्यक्ति की गति और समाज की प्रगति का मूल्यांकन केवल भौतिक मापदंडों से नहीं, बल्कि मानवीय मूल्यों, सामाजिक न्याय और सहयोग की दृष्टि से किया जाता है। गांधी की ये शिक्षाएँ आज के तेज़, उपभोक्तावादी और प्रतिस्पर्धात्मक समाज में समय की नैतिकता को पुनः स्थापित करने में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती हैं। अतः गांधी का समाज दर्शन आधुनिकता और समय की नैतिक चुनौतियों के बीच संतुलन, संयम और मानवीयता का एक दार्शनिक मार्ग प्रस्तुत करता है, जो केवल सामाजिक सुधार ही नहीं, बल्कि व्यक्ति के आंतरिक नैतिक उत्थान का भी आधार है।

कूट-शब्द- गांधीदर्शन, त्वरित आधुनिक संस्कृति, समय की नैतिकता, आत्मसंयम, नैतिक चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व, सत्य- अहिंसा, कर्म ।

परिचय- समय केवल घटनाओं का क्रम या क्षणों की गणना नहीं है; वह मानव अस्तित्व की अंतःसंरचना है। प्रत्येक अनुभव, स्मृति, संकल्प, कर्म और मूल्य समय के भीतर ही घटित होता है। किंतु आधुनिक युग में समय को एक यांत्रिक इकाई में बदल दिया गया है जोकि घंटों, मिनटों और सेकंडों में विभाजित एक ऐसी वस्तु है जिसका मूल्य उसकी गति और उत्पादकता से निर्धारित होता है। इस यांत्रिक समय-बोध के कारण जीवन का नैतिक आयाम क्रमशः संकुचित होता गया है। मनुष्य त्वरित परिणामों की आकांक्षा में साधनों की पवित्रता का त्याग करने लगा है, और प्रक्रिया की नैतिकता परिणाम की उपयोगिता में विलीन होती जा रही है। इसके विपरीत, महात्मा गांधी का समाज-दर्शन समय को नैतिक साधना का क्षेत्र बनाता है। उनके लिए समय आत्म-शुद्धि, सेवा, सत्य और अहिंसा की साधना का माध्यम है। गांधी के चिंतन में समय केवल “कितना” नहीं, बल्कि “कैसा” है। अर्थात् वह किस नैतिक भावना से व्यतीत किया गया है। यह शोध-पत्र इस नैतिक समय-दृष्टि का विस्तृत दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह दिखाने का प्रयास करता है कि त्वरित आधुनिक संस्कृति के संदर्भ में गांधी का समय-दर्शन एक वैकल्पिक नैतिक सभ्यता की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

उपनिषदों में काल की अवधारणा- कठोपनिषद में यम और नचिकेता के संवाद में समय, मृत्यु और अमरत्व के संदर्भ में गहन दार्शनिक विवेचन मिलता है। यम नचिकेता को यह शिक्षा देते हैं कि जो व्यक्ति समय की सीमाओं से परे आत्मा की खोज करता है, वही वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता है।

*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तन्नू स्वाम्॥*

- कठोपनिषद-1.2.23

अर्थात्- यह आत्मा न प्रवचन से प्राप्त होती है, न बुद्धि से, न बहुत श्रवण से; यह आत्मा उसी को प्राप्त होती है जिसे वह स्वयं चुनती है, और उसी के सामने अपने स्वरूप को प्रकट करती है।

यह श्लोक यह दर्शाता है कि आत्म-ज्ञान समय के भीतर संचालित एक नैतिक साधना है, जिसे त्वरित साधनों से नहीं, बल्कि धैर्यपूर्ण आत्म-परिष्कार से प्राप्त किया जाता है।

भगवद्गीता में समय और कर्म की नैतिकता- भगवद्गीता समय को कर्म, कर्तव्य

[126]

त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकता: गांधी के समाज-दर्शन...

और नैतिक उत्तरदायित्व के संदर्भ में समझाती है। गीता मनुष्य को वर्तमान क्षण में नैतिक कर्म करने का उपदेश देती है, न कि भविष्य के फल की चिंता में उलझे रहने का। अतः अप जिस समय कर्म करते हैं वह समय सिर्फ कर्म करने का ही है फल आने का समय दूसरा है जो की कर्म, कर्ता के हाथ में नहीं है। अब जो अपने हाथ में नहीं है उसकी चिंता करना उचित नहीं है यदि कर्म सुचारुरूप और व्यवस्थित हुआ है तो फल भी उसका उतना ही उत्तम आएगा। इसी संदर्भ में श्री कृष्ण कहते हैं की -

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥*

- गीता-2.47

अर्थात्- तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कभी नहीं; न तू कर्मफल का कारण बन और न ही अकर्म में आसक्त हो।

यह श्लोक समय की नैतिक संरचना को उद्घाटित करता है। वर्तमान क्षण (कर्म) और भविष्य (फल) के बीच नैतिक भेद स्थापित करते हुए यह श्लोक मनुष्य को यह सिखाता है कि समय को परिणामों की चिंता में नष्ट न करे, बल्कि वर्तमान में नैतिक कर्तव्य के निर्वहन में लगाए। इसी संदर्भ में पाश्चात्य विचारक कान्ट भी कहता है की कर्तव्य के लिए कर्तव्य करो जोकि गीता के इसी श्लोक का ही पुनर्कथन मात्र है।

बौद्ध दर्शन में क्षणिकता और नैतिक सजगता- बौद्ध दर्शन में क्षणिकता (अनित्य) का सिद्धांत समय की नैतिकता को एक नई दिशा देता है। प्रत्येक क्षण को सजगता और करुणा के साथ जीना ही नैतिक जीवन का आधार है।

*सब्वपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सच्चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥*

- धम्मपद, श्लोक 183

अर्थात्- पाप का त्याग करना, पुण्य का उपार्जन करना और चित्त की शुद्धि करना ही यही बुद्धों की शिक्षा है।

यह श्लोक समय को नैतिक साधना के क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित करता है, जहाँ प्रत्येक क्षण आत्म-शुद्धि का अवसर बन जाता है।

पाश्चात्य परंपरा में समय-बोध और उसकी नैतिक सीमाएँ- पाश्चात्य दर्शन में समय की अवधारणा ऐतिहासिक रूप से विकसित होती रही है। अरस्तू ने समय को गति का मापन माना, जिससे समय भौतिक प्रक्रियाओं से जुड़ गया। ऑगस्टीन ने समय को आत्मानुभूति से जोड़ते हुए उसे चेतना का आंतरिक आयाम बताया। आधुनिक विज्ञान में न्यूटन ने समय को निरपेक्ष, समान और गणितीय

समाज, धर्म एवं दर्शन

परिमाण के रूप में परिभाषित किया। इस दृष्टि ने समय को एक सार्वभौमिक मापक में बदल दिया, जिससे औद्योगिक समाज में समय को उत्पादन, दक्षता और नियंत्रण का उपकरण माना जाने लगा। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् समय श्रम और पूँजी के साथ इस प्रकार जुड़ गया कि उसका नैतिक आयाम क्रमशः गौण होता गया। समय को “धन” के रूप में देखा जाने लगा, और जीवन का मूल्य उसकी उत्पादकता से निर्धारित होने लगा। इस यांत्रिक समय-बोध के परिणामस्वरूप धैर्य, प्रतीक्षा, आत्म-संयम और नैतिक प्रक्रिया जैसे मूल्य हाशिए पर चले गए। इस संदर्भ में गांधी का समाज-दर्शन समय को पुनः नैतिकता के केंद्र में स्थापित करता है।

गांधी के जीवन-प्रयोगों में समय की नैतिकता: अनुशासन से साधना तक- महात्मा गांधी का संपूर्ण जीवन एक नैतिक प्रयोग था। उनकी आत्मकथा “सत्य के प्रयोग” केवल एक आत्मकथात्मक विवरण नहीं, बल्कि नैतिक साधना का दार्शनिक दस्तावेज भी है। गांधी का दैनिक जीवन कठोर समय-अनुशासन से संचालित था, किंतु यह अनुशासन प्रशासनिक दक्षता या उत्पादकता के लिए नहीं, बल्कि आत्म-संयम, साधना और सेवा के लिए था। गांधी समय को ईश्वर की अमूल्य देन मानते थे। उनके लिए समय का अपव्यय केवल व्यक्तिगत हानि नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा भी था। वे मानते थे कि मनुष्य का प्रत्येक क्षण आत्म-शुद्धि, सेवा और सत्य की खोज के लिए समर्पित होना चाहिए।

प्रार्थना, श्रम और सेवा का समय-क्रम-गांधी के आश्रम जीवन में समय का संगठन केवल कार्य-संपादन के लिए नहीं, बल्कि नैतिक साधना के लिए था। प्रार्थना, श्रम, अध्ययन और सेवा का नियमित क्रम समय को एक नैतिक साधन के रूप में प्रतिष्ठित करता है। यह दृष्टि भगवद्गीता के निम्न श्लोक से दार्शनिक पुष्टि प्राप्त करती है।

*योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥*

गीता, श्लोक 2.48

अर्थात्- हे धनंजय! आसक्ति का त्याग करके योग में स्थित होकर कर्म करो, सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखना ही योग कहलाता है।

यह श्लोक समय की नैतिकता का गूढ़ संकेत देता है। “योगस्थ” होना अर्थात् वर्तमान क्षण में चेतना की पूर्णता और नैतिक सजगता के साथ कर्म करना। जिस समय जो कर्म कर रहे हो उसी में अपनी सम्पूर्ण इंद्रियों को लाकर एककत्रित कर चित्त में लगा दो तभी जाके कर्म सुव्यवस्थित और समयानुसार, नैतिक रूप से प्रतिपादित होगा।

समय, साधन और सत्य: गांधी की नैतिक संगति का विस्तृत विवेचन-गांधी के समाज-दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत है कि साधन और साध्य में नैतिक एकता होनी चाहिए। अर्थात् दोनों में से कोई एक भी अशुद्ध नहीं होना चाहिए। यह सिद्धांत समय की नैतिकता से गहराई से जुड़ा हुआ है। गांधी का मानना था कि त्वरित परिणामों की लालसा साधनों की शुद्धता को क्षति पहुँचा सकती है। यदि साधन हिंसक, असत्य या अन्यायपूर्ण हैं, तो प्राप्त परिणाम भी नैतिक नहीं हो सकते, चाहे वे कितने ही शीघ्र क्यों न हों। इसीलिए गांधी ने समय को नैतिक साधनों के साथ संतुलित रखने पर बल दिया। जोकी समय और कर्म की अनिवार्यता को दर्शाता है जिसकी पुष्टि भगवतगीता करता है।

*न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥*

गीता, श्लोक 3.5

अर्थात्- कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता; सभी प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा विवश होकर कर्म करते हैं।

अतः शोधार्थी कह सकता है की मनुष्य एक कार्यशील प्राणी है, यह श्लोक भी स्पष्ट करता है कि प्रत्येक क्षण मनुष्य कर्म से युक्त है, और वही कर्म नैतिक या अनैतिक हो सकता है। गांधी के लिए समय का नैतिक मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्षण किस प्रकार के कर्म में व्यतीत किया गया है स्वार्थ में या सेवा में, हिंसा में या अहिंसा में, असत्य में या सत्य में।

सत्याग्रह और समय की नैतिक प्रक्रिया- सत्याग्रह की अवधारणा गांधी की समय-दृष्टि का व्यावहारिक रूप है। सत्याग्रह में संघर्ष की प्रक्रिया लंबी हो सकती है, किंतु वह सत्य और अहिंसा पर आधारित होती है। इस प्रक्रिया में समय केवल प्रतीक्षा का काल नहीं, बल्कि आत्म-परिष्कार, संवाद और नैतिक प्राथना का अवसर बन जाता है। गांधी का विश्वास था कि यदि समाज परिवर्तन के लिए अधीर हो जाए और त्वरित परिणामों की लालसा में हिंसा या असत्य का सहारा ले, तो वह स्वयं अपने नैतिक आधार को ही नष्ट कर देता है।

त्वरित आधुनिक संस्कृति और गांधी की समय-दृष्टि: एक नैतिक प्रतिपक्ष- आधुनिक समाज “त्वरितता” की संस्कृति से संचालित है। तकनीकी विकास, डिजिटल संचार और उपभोक्तावाद ने समय की अनुभूति को तीव्र बना दिया है। गति को प्रगति और विलंब को असफलता के रूप में देखा जाने लगा है। इसके विपरीत, गांधी के अनुसार धैर्य, संयम और प्रतीक्षा नैतिक जीवन के सक्रिय गुण हैं, न कि निष्क्रियता के संकेत। वे मानते थे कि सामाजिक और नैतिक परिवर्तन में

समाज, धर्म एवं दर्शन

त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकता: गांधी के समाज-दर्शन...

[129]

समय की आवश्यकता केवल रणनीतिक नहीं, बल्कि नैतिक भी होती है। अतः उनकी दृष्टि में विलंब असफलता का प्रतीक नहीं अपितु संयम, धैर्य, और प्रतीक्षा का प्रतीक है। कई बार जीवन में अनुभव भी होता है की तीव्रता के चक्कर में मनुष्य कई त्रुटियाँ कर देता है और फिर बाद में पछतावे के सिवाय व्यक्ति के हाथों में कुछ नहीं आता, इसीलिए हमारे पुरखों ने कहावते बनाई थी जो लोकमानस में प्रचलित भी हैं कि “जल्दी का काम शैतान का है” शायद उन्हें अनुभव था की तीव्रता में त्रुटियाँ होने की संभावना अत्यधिक है।

सत्य और धर्म का कालातीत आचरण- सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, गुरु को प्रिय धन देकर गृहस्थ जीवन की परंपरा को न तोड़ो, सत्य, धर्म, कुशल कर्म, समृद्धि और स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करो। इसी बात को स्पष्ट तैत्तिरीयोपनिषद, का श्लोक 1.11.1 भी करता है -

सत्यं वद। धर्मं चर।

स्वाध्यायात्मा प्रमदः।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

सत्ये न प्रमदितव्यम्। धर्मे न प्रमदितव्यम्।

कुशलेषु न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।

स्वाध्यायप्रवचने च न प्रमदितव्यम्॥

अतः यह सूत्र समय की नैतिकता को प्रतिपादित करता है, क्योंकि सत्य और धर्म का आचरण तात्कालिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि दीर्घकालिक नैतिक जीवन के लिए किया जाता है। इस सूत्र को ध्यान में रखते हुए, कोई भी कार्य सत्य और धर्म के अनुरूप ही करना चाहिए।

समय और सामाजिक न्याय: दीर्घकालिक नैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया- गांधी के समाज-दर्शन में समय की नैतिकता सामाजिक न्याय की प्रक्रिया से गहराई से जुड़ी हुई है। वे मानते थे कि सामाजिक असमानताओं का समाधान केवल त्वरित राजनीतिक उपायों से नहीं, बल्कि दीर्घकालिक नैतिक और सामाजिक परिवर्तन से संभव है। शिक्षा, चरित्र निर्माण और सामाजिक संवाद जैसे क्षेत्रों में परिवर्तन समय लेते हैं, किंतु यही परिवर्तन स्थायी सामाजिक न्याय की आधारशिला बनते हैं। गांधी का विश्वास था कि यदि समाज नैतिक रूप से परिवर्तित नहीं होता, तो राजनीतिक या आर्थिक सुधार केवल सतही सिद्ध होंगे।

धर्म और सामाजिक उत्तरदायित्व- इस संदर्भ में मनुस्मृति में कहा गया है कि

धर्मो रक्षति रक्षितः। मनुस्मृति, श्लोक 8.15

वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

अर्थात्- धर्म की रक्षा करने वालों की धर्म स्वयं रक्षा करता है।

यहाँ पर धर्म का अर्थ नैतिकता, कर्तव्य और सही आचरण से है जो की शुद्ध हो और यह श्लोक समय की नैतिकता का सामाजिक आयाम प्रस्तुत करता है। धर्म अर्थात् नैतिक कर्तव्यकी रक्षा तत्काल लाभ के लिए नहीं, बल्कि दीर्घकालिक सामाजिक संतुलन के लिए की जाती है।

समय और आत्म-संयम: गांधी की नैतिक साधना का मूलाधार-गांधी के समाज-दर्शन में आत्म-संयम समय की नैतिकता का केंद्रीय तत्व है। आत्म-संयम का अर्थ केवल इंद्रिय-नियंत्रण नहीं, बल्कि समय, संसाधनों और इच्छाओं का नैतिक प्रबंधन है। गांधी का विश्वास था कि यदि व्यक्ति अपने समय का संयमित उपयोग नहीं कर सकता, तो वह समाज के प्रति अपने नैतिक दायित्वों का निर्वहन भी नहीं कर सकता।

आत्मोन्नति और समय का नैतिक उपयोग- मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं अपने द्वारा अपना उत्थान करे, स्वयं को पतित न होने दे, आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। और यह उत्थान तभी होगा जब स्वयं को जानेंगे कि हमारी आत्मा उस परम आत्मा से अलग नहीं है। इस संदर्भ में गीता का यह श्लोक-

*उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥*

गीता, श्लोक 6.5

आत्म-संयम की नैतिकता को रेखांकित करता है। आत्मोन्नति समय के नैतिक उपयोग से ही संभव है, जैसा कि गांधी भी मानते थे।

समय और अहिंसा: धैर्य की नैतिक शक्ति- गांधी की अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा का अभाव नहीं, बल्कि समय के भीतर विकसित होने वाली करुणा, सहिष्णुता और धैर्य की नैतिक शक्ति है। अहिंसा का अर्थ है दूसरे के हृदय को बदलने के लिए समय देना, संवाद करना और नैतिक अपील के माध्यम से परिवर्तन लाना। करुणा और क्षमा की प्रक्रिया कालिक प्रक्रिया है जो की अपने स्वरूप और जीवन उद्देश्य को समझने से मनुष्य में धीरे-धीरे विकसित होता है जिसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है की हम सबको एक समान और उसी परमपिता की ही संतान समझे जो इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड का निर्माता, कर्ता, धर्ता और हर्ता है। भगवद्गीता में अहिंसा की नैतिकता को समय के भीतर विकसित होने वाली मानसिक स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

भगवद्गीता, श्लोक 12.15

अर्थात्- जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता और जो संसार से उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है वह मुझे प्रिय है।

निष्कर्ष- त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकताका गांधीके दार्शनिक दृष्टि में निहित यह दार्शनिक अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि समय का प्रश्न मूलतः तकनीकी या व्यवस्थागत नहीं, बल्कि गहरे नैतिक और अस्तित्वगत अर्थों से जुड़ा हुआ है। समकालीन सभ्यता में समय को गति, उत्पादकता और परिणामों की तात्कालिकता के साथ इस प्रकार जोड़ा गया है कि मनुष्य स्वयं एक यांत्रिक इकाई में रूपांतरित होता जा रहा है। इस स्थिति में समय मनुष्य का सहचर न रहकर उस पर शासन करने वाली शक्ति बन गया है। इसके विपरीत गांधी समय को मनुष्य के नैतिक विकास और आत्मिक उन्नति का माध्यम मानते हैं, न कि उस पर हावी होने वाली कोई बाह्य सत्ता। गांधी के समाज-दर्शन में समय का मूल्य उसके तीव्र प्रवाह में नहीं, बल्कि उसके नैतिक उपयोग में निहित है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि शीघ्रता स्वयं में कोई सद्गुण नहीं है और न ही विलंब कोई दोष। सद्गुण और दोष का निर्धारण इस बात से होता है कि समय का उपयोग सत्य, अहिंसा और मानवीय गरिमा के अनुरूप हुआ है या नहीं। त्वरित आधुनिक संस्कृति में समय को “बचाने” की होड़ दिखाई देती है, किंतु गांधी के दृष्टिकोण से यह समय को बचाना नहीं, बल्कि जीवन को संकुचित करना है। जब जीवन की गति इतनी तीव्र हो जाती है कि आत्मचिंतन, संवेदना और नैतिक विवेक के लिए स्थान ही न बचे, तब वह गति मनुष्य के विरुद्ध हिंसा का रूप ले लेती है।

यह शोध-पत्र यह भी प्रतिपादित करता है कि गांधी का समय-बोध सामाजिक संरचना से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। त्वरित संस्कृति केवल व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों को भी सतही बना देती है। संबंध तात्कालिक लाभ, उपयोगिता और सुविधा पर आधारित हो जाते हैं। गांधी इसके विपरीत ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जहाँ संबंधों में स्थायित्व, धैर्य और पारस्परिक उत्तरदायित्व हो। उनके अनुसार समय के साथ धैर्यपूर्वक जीना ही सामाजिक नैतिकता का आधार है। समय की नैतिकता, इस अर्थ में, केवल व्यक्तिगत अनुशासन नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और सहअस्तित्व की शर्त भी है। गांधी के समाज-दर्शन में श्रम और समय का संबंध भी विशेष महत्व रखता है। त्वरित आधुनिक संस्कृति में श्रम का मूल्य उसकी गति और परिणामों से आँका जाता है, जबकि गांधी श्रम को

साधना मानते हैं। उनके लिए श्रम का नैतिक मूल्य इस बात में है कि वह मनुष्य को प्रकृति, समाज और स्वयं अपने अस्तित्व से जोड़ता है। समय के साथ श्रम करने की यह भावना मनुष्य को धैर्य, विनम्रता और आत्मसंयम सिखाती है। इस दृष्टि से गांधी का समय-दर्शन आधुनिक कार्य-संस्कृति की आलोचना प्रस्तुत करता है, जहाँ मनुष्य निरंतर हड़बड़ी और मानसिक तनाव में जीने को विवश है। समकालीन वैश्विक संदर्भ में, जहाँ तकनीक ने समय को संकुचित कर दिया है और “तात्कालिकता” को जीवन-मूल्य बना दिया है, गांधी की समय-नैतिकता एक प्रतिरोधी और सुधारक दर्शन के रूप में उभरती है। यह दर्शन हमें यह स्मरण कराता है कि मनुष्य की स्वतंत्रता समय को जीतने में नहीं, बल्कि समय के साथ नैतिक सामंजस्य स्थापित करने में निहित है। गांधी के लिए समय के साथ चलना आवश्यक है, किंतु समय की अंधी दौड़ में बह जाना आत्मविस्मरण का कारण बनता है। अंततः यह शोध-पत्र त्वरित आधुनिक संस्कृति के बीच गांधी के समाज-दर्शन को समय के पुनर्मानवीकरण की दार्शनिक आवश्यकता को रेखांकित करता है। यह हमें यह सिखाता है कि वास्तविक प्रगति वह नहीं है जो शीघ्र घटित हो जाए, बल्कि वह है जो नैतिक रूप से टिकाऊ हो। समय की नैतिकता, गांधी के चिंतन में, मनुष्य को अधिक करने की नहीं, बल्कि सही ढंग से होने की प्रेरणा देती है। इसी में गांधी के समाज-दर्शन की स्थायी प्रासंगिकता और उसकी दार्शनिक गहराई निहित है।

संदर्भ

1. गांधी, मोहनदास करमचंद, “हिंद स्वराज या भारतीय स्वराज”, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 2011, पृ० 60।
2. गांगुली, बीरेंद्र नाथ, “गांधी का सामाजिक दर्शन: दृष्टिकोण एवं प्रासंगिकता” दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, 1973, पृ० 453।
3. गांगुली, बीरेंद्र नाथ, “गांधीजी का आदर्श सामाजिक व्यवस्था का दर्शन” दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, 1972, पृ० 60।
4. दासगुप्ता, सुगता (संपादक), भारत में सामाजिक कार्य का दर्शन की ओर. नई दिल्ली: एलाइड पब्लिशर्स, 1967, पृ 195-200।
5. संदर्भ सूची-
6. गांधी, मोहनदास करमचंद, “मंगल प्रभात”, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन भाषण संग्रह, 1958।
7. डेबर, उच्चानाराय नवलशंकर, “गांधी और मानव की पूर्ण सुख-समृद्धि”, नई दिल्ली, गांधी राष्ट्रीय स्मारक सोसाइटी, 1959।

त्वरित आधुनिक संस्कृति और समय की नैतिकता: गांधी के समाज-दर्शन... [133]

8. विद्यार्थी, ललिता प्रसाद “गांधी और समाज विज्ञान”, नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1970।
9. Gandhi, MohandasKaramchand “An Autobiography: The Story of My Experiments with Truth”, Ahmedabad, Nava Jivan Publishing House, 1927.
10. Gandhi, MohandasKaramchand, “Hind Swaraj or Indian Home Rule”, Ahmedabad Nava Jivan Publishing House, 1947.
11. Gandhi, MohandasKaramchand, “The Collected Works of Mahatma Gandhi (Vols. 1–100)”, New Delhi, Publications Division, Government of India, 1958.
12. Iyer, Raghavan Narasimhan, “The Moral and Political Thought of Mahatma Gandhi”, Oxford, Oxford University Press, 1973.
13. Parekh, Bhikhu. “Gandhi’s Political Philosophy: A Critical Examination”, Notre Dame, University of Notre Dame Press, 1997.

शोधार्थी- दर्शनशास्त्र विभाग
प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यालय
प्रयागराज, उ०प्र०

भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण

अतुल कुमार तिवारी

सार

भारतीय सूफ़ी परंपरा ने मध्यकाल से आधुनिक काल तक भारतीय समाज के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया है। सूफ़ी संतों ने प्रेम, करुणा, सहिष्णुता और मानव-मात्र की समानता जैसे मूल्यों को केंद्र में रखकर एक ऐसे मानववादी दृष्टिकोण को विकसित किया, जिसने धार्मिक सीमाओं से परे जाकर सामाजिक समरसता को सुदृढ़ किया। यह शोधपत्र भारतीय सूफ़ी परंपरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक आधार, प्रमुख सूफ़ी सिलसिलों, सूफ़ी साहित्य, संगीत तथा लोक-संस्कृति में उसके प्रभाव का विश्लेषण करता है। साथ ही, यह अध्ययन सूफ़ी मानववाद को समकालीन भारत में सांस्कृतिक संवाद और सामाजिक एकता के लिए एक प्रासंगिक वैचारिक संसाधन के रूप में प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: सूफ़ी परंपरा, मानववाद, सांस्कृतिक संवाद, सहिष्णुता, भारतीय समाज

भूमिका

भारत की सांस्कृतिक संरचना बहुलतावादी रही है, जहाँ विभिन्न धर्म, दर्शन, परंपराएँ और जीवन-दृष्टियाँ समानांतर रूप से विकसित होती रही हैं। इस बहुलता के भीतर सूफ़ी परंपरा ने एक ऐसी मानवीय चेतना को जन्म दिया, जिसने धार्मिक सीमाओं से ऊपर उठकर मानवता को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्थापित किया। सूफ़ी संतों का मूल आग्रह बाह्य कर्मकांडों के स्थान पर आंतरिक शुद्धि, प्रेम और करुणा पर रहा है।

मध्यकालीन भारत में जब राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक संघर्ष और सामाजिक विषमता विद्यमान थी, तब सूफ़ी संतों ने समाज को जोड़ने का कार्य

किया। उनकी खानकाहें केवल इबादतगाह नहीं थीं, बल्कि वे सामाजिक सेवा, सांस्कृतिक संवाद और मानवीय सह-अस्तित्व के केंद्र थीं। यहाँ जाति, धर्म, भाषा और वर्ग के भेदभाव के बिना सभी के लिए स्थान था। सूफ़ी परंपरा का मानववाद इस बात में निहित है कि वह मनुष्य को ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानती है। प्रेम (इश्क़), सेवा (ख़िदमत) और करुणा (रहमत) सूफ़ी जीवन-दृष्टि के आधार स्तंभ हैं। यही कारण है कि सूफ़ीवाद भारत में केवल एक धार्मिक आंदोलन न होकर एक व्यापक सांस्कृतिक और मानवीय आंदोलन के रूप में विकसित हुआ।

इस शोधपत्र का उद्देश्य भारतीय सूफ़ी परंपरा के मानववादी आयामों का गहन अध्ययन करना है तथा यह विश्लेषण करना है कि किस प्रकार सूफ़ी विचारधारा ने सांस्कृतिक संवाद, सामाजिक समरसता और मानवीय दृष्टिकोण को सुदृढ़ किया। यह अध्ययन ऐतिहासिक, दार्शनिक और समकालीन तीनों स्तरों पर सूफ़ी मानववाद की प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है।

सूफ़ी परंपरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सूफ़ी परंपरा का उद्भव इस्लाम के आंतरिक आध्यात्मिक आंदोलन के रूप में हुआ, जिसका मूल उद्देश्य आत्मा की शुद्धि, नैतिक अनुशासन और ईश्वर से प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करना था। प्रारंभिक सूफ़ियों—हसन बसरी, इब्राहीम बिन अदहम और राबिया अल-अदविया—ने वैराग्य, तपस्या और प्रेम को आध्यात्मिक साधना का आधार बनाया। यह परंपरा औपचारिक धर्म से भिन्न एक आंतरिक अनुभव पर बल देती थी। समय के साथ सूफ़ी परंपरा संगठित सिलसिलों में विकसित हुई। अब्बासी काल में सूफ़ीवाद ने दर्शन, नैतिकता और सामाजिक सरोकारों को अपने भीतर समाहित किया। सूफ़ियों ने सत्ता, धन और आडंबर से दूरी बनाए रखी, जिससे वे सामान्य जनता के अधिक निकट आए।

भारत में सूफ़ी परंपरा का प्रवेश बारहवीं शताब्दी में हुआ, जब यह भूमि पहले से ही बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और भक्ति परंपराओं से समृद्ध थी। सूफ़ी संतों ने भारतीय सांस्कृतिक संदर्भ को समझते हुए स्थानीय भाषाओं, प्रतीकों और लोक-मान्यताओं को अपनाया। इससे सूफ़ी विचारधारा भारतीय समाज में सहज रूप से समाहित हो गई।

दिल्ली सल्तनत और मुगल काल में सूफ़ी खानकाहें सामाजिक जीवन का केंद्र बनीं। ये संस्थाएँ केवल धार्मिक साधना तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि शिक्षा, चिकित्सा, भोजन और शरण की व्यवस्था करने लगीं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सूफ़ी परंपरा ने भारतीय समाज में आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिक पुनर्गठन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सूफ़ी दर्शन के मूल तत्व

सूफ़ी दर्शन का केंद्रीय उद्देश्य मानव आत्मा को शुद्ध कर उसे परम सत्य से जोड़ना है। यह दर्शन बाह्य धार्मिक आडंबरों की अपेक्षा आंतरिक अनुभव, नैतिक जीवन और प्रेम को महत्व देता है। सूफ़ी चिंतन में ज्ञान (मारिफ़त), प्रेम (इश्क़) और साधना (रियाज़त) का समन्वय दिखाई देता है। इश्क़ सूफ़ी दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। यह ईश्वर के प्रति ऐसा प्रेम है जो साधक को अहंकार, स्वार्थ और भौतिक आसक्तियों से मुक्त करता है। सूफ़ी संतों के अनुसार जब मनुष्य ईश्वर से प्रेम करता है, तो वह समस्त सृष्टि से प्रेम करना सीखता है। इसी से सूफ़ी मानववाद की उत्पत्ति होती है।

तौहीद अर्थात् ईश्वर की एकता का सिद्धांत सूफ़ी दर्शन की दार्शनिक आधारशिला है। यह सिद्धांत मानव समानता की भावना को पुष्ट करता है, क्योंकि यदि ईश्वर एक है तो समस्त मानवता भी एक है। फ़ना (अहंकार का लोप) और बक्रा (ईश्वर में स्थायित्व) सूफ़ी साधना के उच्चतम चरण हैं।

इन अवधारणाओं के माध्यम से सूफ़ी दर्शन मनुष्य में विनम्रता, करुणा और सेवा-भाव विकसित करता है। इस प्रकार सूफ़ी दर्शन केवल आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग नहीं, बल्कि एक संपूर्ण नैतिक और मानवीय जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता है।

भारत के प्रमुख सूफ़ी परंपरा

भारतीय सूफ़ी परंपरा का विकास विभिन्न सूफ़ी सिलसिलों के माध्यम से हुआ, जिनका आध्यात्मिक अनुशासन, सामाजिक दृष्टि और सांस्कृतिक भूमिका भिन्न-भिन्न रही है। इन सिलसिलों ने सूफ़ी विचारधारा को केवल धार्मिक साधना तक सीमित न रखकर सामाजिक और मानवीय चेतना के रूप में विकसित किया।

1- चिश्ती परंपरा

चिश्ती सिलसिला भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय और मानववादी सिलसिला माना जाता है। इसके प्रवर्तक ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने प्रेम, सेवा और सहिष्णुता को सूफ़ी जीवन का मूल आधार बनाया। चिश्ती संत सत्ता और धन से दूरी बनाए रखते थे तथा संगीत (समाअ) को आध्यात्मिक साधना का माध्यम मानते थे। निज़ामुद्दीन औलिया और अमीर खुसरो ने इस परंपरा को सांस्कृतिक ऊँचाई प्रदान की।

2- सुहरावर्दी परंपरा

सुहरावर्दी सिलसिले ने आध्यात्मिकता के साथ सामाजिक और प्रशासनिक समाज, धर्म एवं दर्शन

यथार्थ से संवाद बनाए रखा। इसके अनुयायियों ने शासक वर्ग से भी संपर्क रखा, किंतु नैतिक मूल्यों से समझौता नहीं किया। इस सिलसिले ने सामाजिक अनुशासन और नैतिक जिम्मेदारी पर बल दिया।

3- क़ादरी और नक़्शबंदी परंपरा

क़ादरी सिलसिले में कठोर साधना और आध्यात्मिक अनुशासन को महत्व दिया गया, जबकि नक़्शबंदी सिलसिले ने मौन साधना, ध्यान और आंतरिक शुद्धि पर बल दिया। इन सिलसिलों ने व्यक्तिगत साधना के साथ सामाजिक नैतिकता को भी विकसित किया। इन सभी सिलसिलों ने मिलकर भारतीय सूफ़ी परंपरा को बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया, जहाँ आध्यात्मिक साधना और मानव सेवा एक-दूसरे के पूरक बने।

सूफ़ी परंपरा और भारतीय भक्ति आंदोलन

भारतीय सूफ़ी परंपरा और भक्ति आंदोलन के बीच गहरा वैचारिक, आध्यात्मिक और सामाजिक संवाद देखने को मिलता है। दोनों आंदोलनों का उदय मध्यकालीन भारत में हुआ, जब समाज धार्मिक कर्मकांडों, जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानताओं से ग्रस्त था। सूफ़ी और भक्ति संतों ने ईश्वर से प्रत्यक्ष प्रेम को आध्यात्मिक साधना का केंद्र बनाया। निर्गुण भक्ति और सूफ़ी इश्क़ दोनों ही ईश्वर को निराकार, सर्वव्यापी और प्रेमस्वरूप मानते हैं। कबीर, गुरु नानक, दादू और रैदास की वाणी में सूफ़ी विचारधारा की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है। दोनों परंपराओं ने जाति-व्यवस्था, धार्मिक कट्टरता और पाखंड की आलोचना की। भाषा के स्तर पर भी समानता दिखाई देती है—सूफ़ी संतों ने फ़ारसी के साथ-साथ अवधी, ब्रज और पंजाबी का प्रयोग किया, जबकि भक्ति संतों ने लोकभाषाओं को माध्यम बनाया।

इस सूफ़ी-भक्ति संवाद ने भारतीय समाज में एक साझा आध्यात्मिक संस्कृति को जन्म दिया, जिसे 'गंगा-जमुनी तहज़ीब' कहा जाता है। यह संस्कृति मानववाद, सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय का सशक्त उदाहरण है।

सूफ़ी मानववाद की अवधारणा

सूफ़ी मानववाद भारतीय आध्यात्मिक परंपरा का वह आयाम है जिसमें मनुष्य की गरिमा, समानता और करुणा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सूफ़ी संतों के लिए मानव मात्र ईश्वर की सृष्टि ही नहीं, बल्कि उसका प्रतिरूप भी है। इसलिए किसी भी मनुष्य के साथ किया गया प्रेम और सेवा ईश्वर की इबादत मानी जाती है। इस दृष्टि से सूफ़ी मानववाद आध्यात्मिक और नैतिक दोनों ही स्तरों पर कार्य

[138] भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण करता है।

सूफ़ी मानववाद की जड़ें 'इश्क़' की अवधारणा में निहित हैं। इश्क़ केवल ईश्वर-प्रेम नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि से प्रेम की भावना है। सूफ़ी संत मानते हैं कि जो व्यक्ति ईश्वर से प्रेम करता है, वह मनुष्य से घृणा नहीं कर सकता। यही कारण है कि सूफ़ी संतों ने जाति, धर्म, रंग और भाषा के भेदभाव को अस्वीकार किया। सूफ़ी खानकाहें मानववाद की व्यावहारिक अभिव्यक्ति थीं। यहाँ लंगर, चिकित्सा, शिक्षा और आश्रय की व्यवस्था होती थी। निर्धन, वंचित और पीड़ित वर्ग को बिना किसी भेदभाव के सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रकार सूफ़ी मानववाद केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवहार में भी प्रतिफलित होता है। दार्शनिक स्तर पर सूफ़ी मानववाद तौहीद (एकत्व) की अवधारणा से जुड़ा है। जब ईश्वर एक है, तो समस्त मानवता भी एक है। फ़ना और बक्रा की साधना मनुष्य को अहंकार से मुक्त कर करुणा और विनम्रता की ओर ले जाती है। इस प्रकार सूफ़ी मानववाद एक समग्र जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता है, जो आत्मा, समाज और नैतिकता को एक सूत्र में पिरोता है।

सांस्कृतिक संवाद में सूफ़ी परंपरा की भूमिका

भारतीय समाज की बहुसांस्कृतिक संरचना में सूफ़ी परंपरा ने सांस्कृतिक संवाद को निरंतर प्रोत्साहित किया है। सूफ़ी संतों ने अपने व्यवहार और शिक्षाओं के माध्यम से विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक समुदायों के बीच संवाद का सेतु निर्मित किया। उनकी दृष्टि में धार्मिक पहचान से अधिक महत्वपूर्ण मानवीय पहचान थी। सूफ़ी दरगाहें सांस्कृतिक संवाद के जीवंत केंद्र के रूप में विकसित हुईं। यहाँ हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई तथा अन्य समुदायों के लोग समान श्रद्धा और सम्मान के साथ आते हैं। दरगाहों पर होने वाले उर्स, मेलों और सामूहिक आयोजनों ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान को सुदृढ़ किया।

भाषा, संगीत और लोक परंपराओं के माध्यम से भी सूफ़ी संतों ने संवाद को बढ़ावा दिया। अमीर खुसरो की रचनाओं में फ़ारसी और भारतीय भाषाओं का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। क़व्वाली और सूफ़ी संगीत ने भावनात्मक स्तर पर लोगों को जोड़ा। समकालीन संदर्भ में, जब समाज में धार्मिक ध्रुवीकरण और सांस्कृतिक टकराव बढ़ रहे हैं, सूफ़ी परंपरा संवाद, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व का वैचारिक आधार प्रदान करती है। इस प्रकार सूफ़ी परंपरा भारतीय सांस्कृतिक संवाद की एक सशक्त और प्रासंगिक धारा बनी हुई है।

सूफ़ी साहित्य और मानवतावाद

समाज, धर्म एवं दर्शन

सूफ़ी साहित्य भारतीय मानवतावादी परंपरा का एक अत्यंत समृद्ध और प्रभावशाली स्रोत है। इसमें कविता, गद्य, कथाएँ, मलफूज़ात (सूफ़ी संतों के उपदेश) और लोकगीत शामिल हैं। इस साहित्य की केंद्रीय विशेषता यह है कि इसमें ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम को अलग-अलग नहीं, बल्कि एक ही अनुभव के दो रूपों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अमीर खुसरो सूफ़ी साहित्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में फ़ारसी और भारतीय भाषाओं का सुंदर समन्वय मिलता है, जो सांस्कृतिक संवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। खुसरो की कविताएँ प्रेम, करुणा और सामाजिक सौहार्द का संदेश देती हैं। इसी प्रकार बुल्ले शाह, शाह अब्दुल लतीफ़ भिटाई, सच्चल सरमस्त और वारिस शाह जैसे सूफ़ी कवियों ने मानव गरिमा, समानता और आत्मिक स्वतंत्रता को अपने काव्य का केंद्र बनाया।

सूफ़ी साहित्य में सामाजिक अन्याय, धार्मिक कट्टरता और पाखंड की तीखी आलोचना भी मिलती है। यह साहित्य सत्ता और धार्मिक प्रभुत्व के विरुद्ध मानवीय चेतना की आवाज़ बनकर उभरा। सूफ़ी कवियों ने लोकभाषाओं का प्रयोग कर अपने विचारों को आम जनता तक पहुँचाया, जिससे मानवतावादी मूल्य समाज की जड़ों तक पहुँचे।

दार्शनिक दृष्टि से सूफ़ी साहित्य मनुष्य को आत्मचिंतन, नैतिकता और करुणा की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार सूफ़ी साहित्य केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और मानववाद का सशक्त माध्यम है।

सूफ़ी संगीत, क़व्वाली और लोक-संस्कृति

सूफ़ी परंपरा में संगीत को आत्मिक अनुभूति का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। 'समाअ' अर्थात् संगीत-साधना सूफ़ी साधकों के लिए ईश्वर-प्रेम की अनुभूति का माध्यम रही है। क़व्वाली सूफ़ी संगीत का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है, जिसने भारतीय लोक-संस्कृति में गहरी पैठ बनाई है। क़व्वाली का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि श्रोता को आध्यात्मिक भावावेश में ले जाना है। इसके माध्यम से प्रेम, विरह, समर्पण और एकत्व की अनुभूति कराई जाती है। क़व्वाली और सूफ़ी संगीत ने भाषा, धर्म और वर्ग की सीमाओं को पार कर लोगों को जोड़ा है।

लोक-संस्कृति में सूफ़ी प्रभाव मेलों, उर्स, लोकगीतों और परंपरागत अनुष्ठानों में स्पष्ट दिखाई देता है। दरगाहों पर होने वाले उत्सव सांस्कृतिक समन्वय और सामूहिकता के प्रतीक हैं। यहाँ विभिन्न समुदायों के लोग समान रूप से भाग लेते हैं। समकालीन समय में भी सूफ़ी संगीत सामाजिक तनावों को कम करने और भावनात्मक संवाद स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इस प्रकार

[140] भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण
सूफ़ी संगीत और लोक-संस्कृति सूफ़ी मानववाद की जीवंत अभिव्यक्ति हैं।

समकालीन भारत में सूफ़ी मानववाद की प्रासंगिकता

समकालीन भारत तीव्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा है। वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, पहचान की राजनीति और डिजिटल संचार ने समाज को नई संभावनाएँ दी हैं, किंतु साथ ही धार्मिक ध्रुवीकरण, असहिष्णुता और सामाजिक विघटन की चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। ऐसे संदर्भ में सूफ़ी मानववाद की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। सूफ़ी मानववाद प्रेम, करुणा और सह-अस्तित्व पर आधारित ऐसी जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता है, जो विविधताओं के बीच संवाद को संभव बनाती है। यह दृष्टि धार्मिक पहचान को नकारे बिना मानवीय गरिमा को प्राथमिकता देती है। समकालीन भारत में जब धर्म को राजनीतिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है, तब सूफ़ी परंपरा धर्म की नैतिक और मानवीय व्याख्या प्रस्तुत करती है।

शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में सूफ़ी मानववाद महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। पाठ्यक्रमों में सूफ़ी साहित्य, संगीत और दर्शन को शामिल कर युवाओं में सहिष्णुता, संवाद और आलोचनात्मक चेतना विकसित की जा सकती है। नागरिक समाज, एनजीओ और शांति-अध्ययन कार्यक्रमों में सूफ़ी मूल्यों का प्रयोग सामाजिक तनावों को कम करने में सहायक हो सकता है। डिजिटल युग में भी सूफ़ी मानववाद की नई अभिव्यक्तियाँ सामने आ रही हैं—ऑनलाइन क़व्वालियाँ, साहित्यिक मंच और अंतर-धार्मिक संवाद। इस प्रकार समकालीन भारत में सूफ़ी मानववाद केवल अतीत की विरासत नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए एक सक्रिय वैचारिक संसाधन है।

सूफ़ी परंपरा की समालोचना

सूफ़ी परंपरा की व्यापक स्वीकृति के बावजूद इसकी आलोचनात्मक जाँच आवश्यक है। कुछ विद्वानों का तर्क है कि सूफ़ीवाद अत्यधिक आध्यात्मिक होने के कारण सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में प्रत्यक्ष परिवर्तन लाने में सीमित भूमिका निभाता है। इसे कभी-कभी पलायनवादी या रहस्यवादी परंपरा के रूप में भी देखा गया है। कुछ आलोचक यह भी मानते हैं कि ऐतिहासिक रूप से कुछ सूफ़ी संस्थान सत्ता और संरक्षकत्व पर निर्भर हो गए, जिससे उनकी आलोचनात्मक धार कमजोर पड़ी। दरगाह-केंद्रित भक्ति में कर्मकांड, चढ़ावा और अंधश्रद्धा के तत्वों के प्रवेश की भी आलोचना की जाती रही है।

समाज, धर्म एवं दर्शन

इन आलोचनाओं के बावजूद सूफ़ी परंपरा का सामाजिक और मानवीय योगदान नकारा नहीं जा सकता। अनेक सूफ़ी संतों ने सत्ता, कट्टरता और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध स्पष्ट प्रतिरोध दर्ज किया। बुल्ले शाह, कबीर और सच्चल सरमस्त जैसे संतों की वाणी सत्ता-विरोधी और मानवतावादी चेतना से परिपूर्ण है।

अतः समालोचना का उद्देश्य सूफ़ी परंपरा को नकारना नहीं, बल्कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ, सीमाओं और संभावनाओं को संतुलित रूप से समझना है। यह संतुलित दृष्टि ही सूफ़ी मानववाद की समकालीन प्रासंगिकता को और अधिक सुदृढ़ करती है।

सूफ़ी परंपरा और वैश्विक मानववाद

सूफ़ी परंपरा का मानवतावादी दृष्टिकोण केवल भारतीय या इस्लामी संदर्भ तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका स्वरूप वैश्विक मानववाद से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। सूफ़ी दर्शन मनुष्य को धार्मिक, जातीय और भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठकर देखने का आग्रह करता है। यह दृष्टि आधुनिक वैश्विक मानववाद के उस आदर्श से मेल खाती है, जिसमें मानव गरिमा, शांति और सह-अस्तित्व को सार्वभौमिक मूल्य माना जाता है।

वैश्विक स्तर पर जब युद्ध, शरणार्थी संकट, नस्लवाद और धार्मिक कट्टरता जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं, तब सूफ़ी मानववाद एक नैतिक विकल्प प्रस्तुत करता है। रूमी, हाफ़िज़ और इब्र अरबी जैसे सूफ़ी विचारकों की रचनाएँ आज भी विश्वभर में प्रासंगिक हैं। उनके लेखन में प्रेम और आत्मिक एकता की अवधारणा वैश्विक मानवतावादी विमर्श को समृद्ध करती है। संयुक्त राष्ट्र, अंतर-धार्मिक मंचों और शांति आंदोलनों में संवाद, सहिष्णुता और करुणा जैसे सूफ़ी सिद्धांतों की झलक मिलती है। इस प्रकार सूफ़ी परंपरा वैश्विक मानववाद को आध्यात्मिक गहराई और नैतिक आधार प्रदान करती है।

अतः सूफ़ी मानववाद आधुनिक वैश्विक संकटों के समाधान हेतु एक वैकल्पिक और समावेशी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

सूफ़ी परंपरा: स्त्री दृष्टिकोण

सूफ़ी परंपरा में स्त्री की भूमिका केवल अनुयायी तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसे आध्यात्मिक चेतना के प्रतीक के रूप में भी देखा गया है। यद्यपि ऐतिहासिक रूप से सूफ़ी संस्थाएँ पुरुष-प्रधान रही हैं, फिर भी स्त्री अनुभव और स्त्री स्वर सूफ़ी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। राबिया अल-अदविया जैसी सूफ़ी संतों ने प्रेम को ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोच्च मार्ग बताकर स्त्री आध्यात्मिकता को नई दिशा दी।

[142] भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण

उनकी साधना में आत्म-सम्मान, निर्भीकता और ईश्वर से प्रत्यक्ष संवाद की भावना दिखाई देती है। सूफ़ी काव्य में प्रेमिका का रूपक आत्मा और परमात्मा के संबंध को व्यक्त करता है। यह स्त्री को केवल सामाजिक इकाई नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। समकालीन नारीवादी विमर्श के संदर्भ में सूफ़ी मानववाद प्रेम, समानता और आत्मिक स्वतंत्रता के मूल्यों के माध्यम से एक मानवीय विकल्प प्रस्तुत करता है।

सूफ़ी परंपरा: स्त्री और मानवता

सूफ़ी परंपरा में स्त्री को आध्यात्मिक साधक के रूप में स्वीकार किया गया है। राबिया अल-अदविया इसका प्रमुख उदाहरण हैं। यह दृष्टिकोण स्त्री गरिमा और समानता को सुदृढ़ करता है।

भविष्य की संभावनाएँ

सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद की भविष्यगत संभावनाएँ अत्यंत व्यापक और बहुआयामी हैं। इक्कीसवीं सदी में जब विश्व सांस्कृतिक टकराव, धार्मिक असहिष्णुता, पर्यावरणीय संकट और मानवीय मूल्यों के क्षरण जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब सूफ़ी मानववाद एक वैकल्पिक नैतिक एवं सांस्कृतिक मार्ग प्रस्तुत करता है। यह परंपरा प्रेम, संवाद और सह-अस्तित्व के माध्यम से वैश्विक शांति की संभावना को सुदृढ़ कर सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में सूफ़ी मानववाद को नैतिक शिक्षा और मूल्य-आधारित अध्ययन का आधार बनाया जा सकता है। विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में सूफ़ी साहित्य, दर्शन और संगीत पर अंतर्विषयक अध्ययन को प्रोत्साहन देकर नई पीढ़ी में सहिष्णुता और मानवीय चेतना विकसित की जा सकती है। डिजिटल माध्यमों के माध्यम से सूफ़ी संदेश का वैश्विक प्रसार भी भविष्य की एक महत्वपूर्ण संभावना है।

सामाजिक स्तर पर सूफ़ी परंपरा धार्मिक समुदायों के बीच संवाद को बढ़ावा दे सकती है। अंतर-धार्मिक मंचों, शांति अभियानों और नागरिक आंदोलनों में सूफ़ी मूल्यों का समावेश सामाजिक तनाव को कम करने में सहायक हो सकता है। इसके अतिरिक्त पर्यावरणीय चेतना के संदर्भ में भी सूफ़ी दर्शन प्रकृति और मानव के सामंजस्य पर बल देता है।

अतः भविष्य में सूफ़ी मानववाद केवल एक आध्यात्मिक परंपरा नहीं, बल्कि एक सक्रिय सामाजिक और नैतिक शक्ति के रूप में उभर सकता है, जो मानवता को विभाजन के बजाय एकता की दिशा में ले जाए।

उपसंहार

समाज, धर्म एवं दर्शन

प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद का सांस्कृतिक संवाद और मानवीय दृष्टिकोण के आलोक में विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सूफ़ी परंपरा केवल धार्मिक या आध्यात्मिक आंदोलन नहीं रही, बल्कि उसने भारतीय समाज को मानवीय मूल्यों, सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि प्रदान की है।

सूफ़ी मानववाद ने जाति, धर्म और भाषा की सीमाओं को पार कर प्रेम और करुणा को जीवन का केंद्रीय मूल्य बनाया। सूफ़ी संतों, साहित्य, संगीत और लोक-संस्कृति के माध्यम से यह चेतना जनमानस में गहराई से समाहित हुई। भारतीय संदर्भ में सूफ़ी और भक्ति परंपरा का संवाद इसकी जीवंतता का प्रमाण है। समकालीन और वैश्विक संदर्भ में सूफ़ी मानववाद की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। यह परंपरा धार्मिक कट्टरता और सांस्कृतिक टकराव के विरुद्ध मानवीय विकल्प प्रस्तुत करती है। स्त्री दृष्टिकोण, वैश्विक मानववाद और समालोचना के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि सूफ़ी परंपरा निरंतर विकसित होने वाली जीवंत धारा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय सूफ़ी परंपरा मानवता के लिए एक ऐसी सांस्कृतिक विरासत है, जो अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीनों को जोड़ती है। यह परंपरा मानव को केवल आस्थावान नहीं, बल्कि संवेदनशील, संवादशील और करुणामय बनने की प्रेरणा देती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. Schimmel, Annemarie, *Mystical Dimensions of Islam*, University of North Carolina Press, 1975.
2. Ernst, Carl W., *The Shambhala Guide to Sufism*, Shambhala, 1997.
3. Nicholson, Reynold A., *The Mystics of Islam*, Routledge & Kegan Paul, 1921.
4. Chittick, William C., *Sufism: A Short Introduction*, Oneworld, 2000.
5. Ernst, Carl W., *Sufism and Religious Pluralism in India*, Oxford University Press, 2003.
6. Faruqi, Lois Ibsen, *Early Urdu Literary Culture and History*, Oxford University Press, 2001.
7. Nizami, Khaliq Ahmad, *Some Aspects of Religion and Politics in India During the 13th Century*, Islamic Book Foundation, 1973.
8. Alam, Muzaffar, *The Pursuit of Persian: Language in Mughal Politics*, Oxford University Press, 2000.
9. Rizvi, S.A.A., *A History of Sufism in India*, Munshiram Manoharlal, 1978.
10. Qureshi, I.H., *Sufism in India: Its History and Influence*, Islamic Book Service, 1992.

[144] भारतीय सूफ़ी परंपरा एवं मानववाद - सांस्कृतिक संवाद एवं मानवीय दृष्टिकोण

11. Hussain, Syed Ameer, A Short History of Muslim Philosophy, Luzac & Co., 1960.
12. Knysh, Alexander, Islamic Mysticism: A Short History, Brill, 2000.
13. Lawrence, Bruce B., Shattering the Myth: Studies in Sufism and Society, University of South Carolina Press, 1995.
14. Schimmel, Annemarie, Islamic Calligraphy, Brill, 1984.
15. Van Bruinessen, Martin, Sufism and the 'Modern' in South Asia, Routledge, 1992.
16. Chatterjee, Partha, The Nation and Its Fragments, Princeton University Press, 1993.
17. Alam, Muzaffar, The Mughal State 1526–1750, Oxford University Press, 1998.
18. Zaehner, R.C., Mysticism: Sacred and Profane, Oxford University Press, 1957.
19. Rizvi, S.A.A., Mughal Architecture and Sufi Patronage, Munshiram Manoharlal, 1983.
20. Carl W. Ernst, Ruzbihan Baqli: Mysticism and Culture in Medieval Islam, Brill, 1996.
21. Knysh, Alexander, Islamic Mysticism: A Critical Introduction, Edinburgh University Press, 2002.
22. Ernst, Carl W., Reflections on Islamic Mysticism, Routledge, 2003.
23. Schimmel, Annemarie, Pain and Grace: A Study of Two Mystics, University of North Carolina Press, 1980.
24. Chittick, William C., The Sufi Path of Knowledge: Ibn al-Arabi's Metaphysics of Imagination, SUNY Press, 1989.

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

समाज, धर्म एवं दर्शन

विभिन्न धर्मों का दार्शनिक विश्लेषण

किरन बडेरिया

हिंदू धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है, जिसकी जड़ें वैदिक काल में हैं। यह केवल एक धर्म नहीं बल्कि, जीवन जीने की एक संपूर्ण प्रणाली है। हिंदू धर्म में दर्शन, आध्यात्मिकता, नैतिकता और सामाजिक आचरण का गहरा समावेश है। इसके प्रमुख दर्शन शास्त्रों ने न केवल भारतीय चिंतन परंपरा बल्कि समग्र विश्व दर्शन को भी प्रभावित किया है।

“हिंदू धर्म का स्वरूप अन्य सभी धर्मों से अलग है। इसका कोई एक संस्थापक नहीं है। इसके अनुसार धर्म वह है जो जीवन को सँवार दे, उसका आश्रय बन सके, उसे समृद्ध बना करे। इसलिये हिंदू धर्म कीसी तरह का साम्प्रदायिक धर्म नहीं कहा जा सकता। इसे कहकर परिभाषित किया जाता है। “पुराणोक्त-स्मृति-श्रुति” हालांकि उपनिषदों की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही एक रूप है और ब्रह्म पर साधना की दृष्टि से तथा धर्म प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतंत्रता देता है कि परम तत्व या ईश्वर को प्रारंभिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिरुचियों के आधार पर स्वरूप प्रदान कर सकता है।”¹

हिंदू दर्शन की शाखाएँ

हिंदू धर्म में दर्शन की मुख्यतः छह आस्तिक (नास्तिक नहीं) शाखायें मानी जाती हैं।

1. सांख्य दर्शन - यह द्वैतवादी दर्शन है, जो पुरुष (चेतन तत्व) और 'प्रकृति' (अचेतन तत्व) सिद्धान्त पर आधारित हैं। कपिल मुनि इसके प्रवर्तक माने जाते हैं।
2. योग दर्शन - पतंजलि द्वारा प्रणीत यह दर्शन आत्मा की मुक्ति के लिए योग की आठ अवस्थाओं (अष्टांग योग) की व्याख्या करता है।
3. न्याय दर्शन - गौतम द्वारा प्रतिपादित (ज्ञान प्राप्ति के साधन) यह तर्कशक्ति और प्रमाणों पर आधारित दर्शन है।
4. वैशेषिक दर्शन - कणाद द्वारा रचित यह दर्शन पदार्थों की स्वभावगत विशेषताओं और परमाणुवाद पर केंद्रित है।

5. मीमांसा दर्शन - जैमिनी द्वारा प्रणीत कर्मकांड और वैदिक अनुष्ठाओं की यह व्याख्या करता है।

6. वेदांत दर्शन - इसे उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। शंकराचार्य (अद्वैत), रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत), और मध्वाचार्य द्वारा इसकी विभिन्न व्याख्याएं की गईं। ब्रह्म (द्वैत) आत्मा और माया के सिद्धान्त पर आधारित है।

मुख्य अवधारणाएँ -

- धर्म (कर्तव्य/नैतिकता)
- कर्म (क्रिया और उसका फल)
- पुनर्जन्म (जन्म-मरण का चक्र)
- मोक्ष (मुक्ति)
- अहिंसा, सत्य, आत्मा की अमरता

दार्शनिक दृष्टिकोण से हिंदू धर्म की विशेषताएँ -

- बहुलवाद और सहिष्णुता की स्वीकृति
- व्यक्ति की आंतरिक चेतना पर बल
- आत्मा और ब्रह्म की एकता की खोज
- जीवन को चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में विभाजित करना

हिंदू धर्म का दार्शनिक विश्लेषण यह दर्शाता है कि यह धर्म केवल पूजा-पाठ तक सीमित नहीं है बल्कि जीवन, ब्रह्माण्ड और आत्मा की परम सत्य की खोज से जुड़ा हुआ है। इसमें अध्यात्म और तर्क दोनों का सामंजस्य है जो इसे एक समग्र जीवन-दर्शन बनाता है।

इस्लाम धर्म

इस्लाम एक एकेश्वरवादी धर्म है जिसकी स्थापना 7वीं शताब्दी में पैगम्बर मोहम्मद के माध्यम से अरब में हुई थी। इसकी प्रमुख धार्मिक पुस्तक कुरआन है और हदीस इसका पूरक साहित्य है। जो पैगम्बर के कथनों और कार्यों का संकलन है।

सामाजिक विश्लेषण -

(क) समानता और न्याय - इस्लाम धर्म में सभी मनुष्यों को अल्लाह की रचना माना गया है, रंग और जाति नस्ल या सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव को

नकारा गया है। उदाहरण- हज के समय सभी मुसलमान एक जैसे वस्त्र पहनते हैं जिससे समानता का भाव प्रकट होता है।

(ख) परिवार और विवाह - इस्लाम धर्म परिवार संस्था को बहुत महत्व देता है। विवाह को एक सामाजिक अनुबंध माना जाता है। पुरुषों को चार विवाह की अनुमति है लेकिन शर्त यह है कि वह सभी के साथ न्याय करे।

(ग) सामाजिक उत्तरदायित्व - इस्लाम में “जकात” यानी आय का एक निश्चित हिस्सा निर्धनों को देना अनिवार्य है। यह सामाजिक पुनर्वितरण की भावना को दर्शाता है।

(घ) महिलाओं की स्थिति - इस्लाम धर्म ने प्रारंभिक काल में महिलाओं को संपत्ति के अधिकार, विवाह और शिक्षा में सहमति का अधिकार दिया। उस समय समाज की व्यवस्था में प्रगतिशील विचार माने जाते थे।

दार्शनिक विश्लेषण -

(क) तौहीद (एकेश्वरवाद) - इस्लाम का मुख्य दार्शनिक सिद्धांत है तौहीद यानी अल्लाह की एकता। इसके अनुसार अल्लाह ही संपूर्ण ब्रह्मांड का निर्माता, पालनकर्ता और न्यायाधीश है।

(ख) कर्म और प्रतिफल - इस्लाम कर्म और उसके फल पर विश्वास करता है। परलोक में इंसान को उसके कर्मों के आधार पर स्वर्ग या नर्क मिलेगा। यह नैतिक उत्तरदायित्व की भावना को मजबूत करता है।

(ग) ज्ञान और तर्क - इस्लाम धर्म में ज्ञान को बहुत महत्व दिया गया है। कुरआन में (पढ़ो) “इकरा” शब्द के साथ ज्ञान की शुरुआत मानी जाती है। मध्यकालीन इस्लामी दर्शन में फरबी जैसे विचारकों ने यूनानी दर्शन को इस्लामी सिद्धांतों से अलग, इन्न रुशद जोड़ा।

(घ) आत्मा और शरीर - इस्लाम में आत्मा को ईश्वर की एक विशेष रचना माना गया है। शरीर नश्वर है पर आत्मा अमर है और मृत्यु के बाद इसका हिसाब लिया जायेगा।

इस्लाम धर्म सामाजिक समरसता और नैतिक जीवन जीने पर न्याय, समानता, उत्तरदायित्व पर बल देता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह धर्म एकेश्वरवाद, ज्ञान और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है। यह धर्म सामाजिक सुधार और मानव कल्याण को अपने केंद्र में रखता है।

सिख धर्म

15वीं शताब्दी में गुरु नानक देव जी द्वारा स्थापित एक एकेश्वरवादी धर्म है, पंजाब क्षेत्र में उत्पन्न हुआ। इसका मुख्यतः दार्शनिक आधार भक्ति आंदोलन, इस्लाम के सूफी विचारों और भारतीय दर्शन की विविध धाराओं से प्रभावित है, लेकिन इसकी अपनी विशिष्ट पहचान और दर्शन भी है।

1. एकेश्वरवाद (Monotheism) :

सिख धर्म का सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वह है, अर्थात् ईश्वर एक है “एक ओंकार” निराकार अजन्मा और सर्वव्यापक है। गुरु ग्रंथ साहिब में ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा गया है “वाहेगुरु”, “निरंकार” आदि। ईश्वर सृष्टि का रचयिता “सतनाम” है और सभी प्राणियों में व्याप्त है।

2. नाम सिमरन और भक्ति का मार्ग -

सिख धर्म में मोक्ष प्राप्ति का मार्ग नाम जपना (ईश्वर का ध्यान करना), कीर्तन करता है। (अपने संसाधनों को बांटना) और वंड छकना (ईमानदारी से कर्म करना) यह मार्ग भक्ति और सेवा के माध्यम से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का प्रयास है।

3. गुरु का महत्त्व -

सिख दर्शन में गुरु को परम ज्ञान का स्रोत माना गया है। दस सिख गुरुओं की वाणी और शिक्षाओं को गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित किया गया है जिसे “गुरु” के रूप में पूज्य माना जाता है। गुरु का मार्गदर्शन आत्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

4. माया और अहंकार का त्याग -

सिख दर्शन में अहंकार, मोह, लोभ, क्रोध, काम अर्थात् पंचविकार को आध्यात्मिक प्रगति में बाधक माना गया है। साथ ही माया को भी एक भ्रम के रूप में देखा जाता है।

5. सामाजिक समानता और सेवा का सिद्धांत -

सिख धर्म का दर्शन ऊंच-नीच के भेदभाव, जात-पात को नकारता है। लंगर प्रणाली, सेवा भावना और संगत-पंगत जैसे व्यावहारिक रूप इसके सामाजिक दर्शन को दर्शाते हैं।

6. कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत -

सिख धर्म कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है परन्तु उससे मुक्ति की संभावना को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार ईश्वर की कृपा एवं नाम सिमरन से ही मुक्ति संभव है, जिसका अंतिम लक्ष्य ईश्वर में लीन हो जाना है।

7. ध्यान और आंतरिक अनुभूति -

सिख धर्म बाह्य कर्मकांडों और अंधविश्वासों से हटकर आंतरिक अनुभव, ध्यान और सच्चे जीवन पर बल देता है।

जैन धर्म

जैन धर्म के मूल सिद्धान्त उसकी ज्ञानमीमांसा तथा आत्मा की मुक्ति और कर्म की अवधारणाओं पर आधारित है।

जैन दर्शन का मूल आधार द्वैतवाद है। जीव (आत्मा) और अजीव (पदार्थ)।

- जीव चेतन तत्व है जो जानने और देखने की क्षमता रखता है।
- अजीव अचेतन है और इसमें पांच तत्व आते हैं: पुद्गल (पदार्थ), धर्म (गति का माध्यम), अधर्म (विश्राम का माध्यम), आकाश (स्थान), और काल (समय)।

यह द्वैतवाद जैन धर्म को वैदिक अद्वैतवाद से भिन्न बनाता है।

2. कर्म सिद्धांत -

जैन धर्म में कर्म को सूक्ष्म भौतिक कणों के रूप में माना गया है, जो आत्मा के साथ चिपक जाते हैं।

- अशुभ कर्म आत्मा को बांधते हैं और संसार में भ्रमण का कारण बनते हैं।
- कर्म बंधन को समाप्त करना ही मोक्ष की ओर अग्रसर होना है।

3. अनेकांतवाद (वस्तुओं की अनेक दृष्टियों से व्याख्या) -

- यह दर्शन कहता है कि हर वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, और कोई एक दृष्टिकोण पूर्ण सत्य नहीं होता।
- इसका व्यावहारिक रूप है - स्यातवाद, जिसमें "शायद" या "कुछ अंशों में" जैसे वाक्य आते हैं।

उदाहरण के लिए स्यात अस्ति अर्थात् एक वस्तु का अस्तित्व है तथा स्यात नास्ति अर्थात् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, विभिन्न संदर्भों में ये दोनों ही कथन सत्य हो सकते हैं।

4. ज्ञानमीमांसा (Epistemology)-

- जैन दर्शन में ज्ञान के पांच प्रकार माने गए हैं:
 - a. मति ज्ञान (इंद्रियों से)
 - b. श्रुत ज्ञान (श्रवण और ग्रंथों से)
 - c. अवधि ज्ञान (सीमित दूरदर्शी ज्ञान)
 - d. मनःपर्याय ज्ञान (मन की बात जानना)
 - e. केवल ज्ञान (संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञानी)

5. मोक्ष और साधना मार्ग-

- मोक्ष का अर्थ है आत्मा का कर्म बंधनों से मुक्त होकर अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना।
- इसके लिए आवश्यक हैं- सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र (जिन्हें त्रिरत्न कहा जाता है)।
- अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अचौर्य ये पाँच व्रत मोक्ष की दिशा में सहायक हैं।

6. जैन धर्म ईश्वरवाद का खंडन करता है। उसके अनुसार किसी भी प्रमाण के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध कर पाना संभव नहीं है। इस संदर्भ में जैन धर्म ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए पूर्वपक्षियों द्वारा दी गई युक्तियों की त्रुटियों की ओर संकेत करता है।²

जैन दर्शन एक गंभीर वैज्ञानिक और तर्क संगत प्रणाली है, जो आत्मा तथा मोक्ष दोनों को भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही जीवन दृष्टियों से समझाने का प्रयास करता है। इस प्रकार ये सभी धर्म उन सामाजिक संरचनाओं एवं परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें न केवल धर्म एवं नैतिकता बल्कि दर्शन की गहन दृष्टि भी सम्मिलित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. रामनारायण व्यास, धर्मदर्शन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ. 157।
2. डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा, धर्म दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, पृ. 45।
3. धर्म दर्शन - डॉ. महेश्वर मिश्र, धर्म दर्शन, सत्यम पब्लिशिंग हाउस।

52, Gorhan Dham Nagar,
Ujjain (M.P.)
Mo. : 7987892897
Email:baderiyakiran@gmail.com

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी दृष्टि

कुसुम

सारांश

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन हमारे देश के स्वतंत्रता सेनानियों के संघर्ष एवं बलिदान की एक अमर कहानी है। हमारे पूर्वजों ने अपने सुख-चैन एवं प्राणों की आहुति देकर देश को आजाद कराया है। माताओं ने अपने सुहाग की बलि दी है तो वहीं बहनों एवं माताओं ने अपने लालों एवं सुहाग को खोया है तब जाकर हम सब को विदेशी गुलामी से मुक्ति मिली है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में हमें समाजवादी विचारधारा की गहन दृष्टि देखने को मिलती है। प्रस्तुत शोध-पत्र के अंतर्गत हमारा उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों में परिलक्षित समाजवादी रुझान का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

कुंजी शब्द— राष्ट्रीय आन्दोलन, समाजवादी, वामपंथी, पूँजीवादी, साम्यवादी, क्रान्तिकारी, उपनिवेशवाद, जमींदारी साम्राज्यवाद, बुर्जुआ, राष्ट्रवादी।

राष्ट्रीय आंदोलन प्रारंभ में ही गरीबों का पक्षधर था। नरमपंथियों द्वारा उपनिवेशवाद की सारी आलोचना इसी बात पर केंद्रित थी कि जनता की गरीबी बढ़ रही है। 1917 एवं 1930 के दशक में शक्तिशाली वामपंथी दलों एवं ग्रुपों के किसानों और गरीबों के प्रति यह पक्षधरता और मजबूत हुई। राष्ट्रीय आंदोलन अपने विभिन्न चरणों में जो नीतियाँ और सुधार के जो कार्यक्रम बनाए, वे उस दौर को देखते हुए क्रान्तिकारी से कम नहीं थे। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की कुछ प्रमुख माँगें इस प्रकार थीं—अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, गरीबों और मध्य वर्ग पर टैक्स के बोझ में कमी, नमक कर, भू-राजस्व और लगान में कटौती, ऋणग्रस्त किसानों को राहत दिलाना तथा ब्याज की सस्ती दरों पर उन्हें कर्ज देना, काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा, मजदूरों के काम के घंटों में कमी तथा जीने लायक मजदूरी का अधिकार, कम वेतन पाने वाले सरकारी कर्मचारियों, जिनमें पुलिस वाले भी थे, की वेतन-वृद्धि, मजदूरों और किसानों के संगठन के अधिकार की सुरक्षा,

ग्रामोद्योगों की सुरक्षा और उन्हें बढ़ावा देना, आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहन, शराबखोरी की समाप्ति, स्त्रियों की सामाजिक हैसियत में सुधार तथा उन्हें रोजगार एवं शिक्षा का अधिकार एवं पुरुषों के बराबर राजनीतिक अधिकार प्रदान करना, अस्पृश्यता के अंत के लिए कानूनी एवं सामाजिक कदम उठाना तथा विधि-व्यवस्था की मशीनरी का पुनर्संस्कार।ⁱ

राष्ट्रीय आंदोलन को इसलिए भी समाजवादी आधार वाला बनने में सुविधा हुई, क्योंकि वह बुनियादी रूप से जनता या गरीबों का पक्षधर था और यह मानता था कि आंदोलन की नीतियाँ जनाधारित होनी चाहिए तथा लोगों को न केवल राजनीतिक रूप से जागरूक और सक्रिय बनाना चाहिए बल्कि राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल भी करना चाहिए।

इस सबके बावजूद जैसा कि स्पष्ट है, विकास की राष्ट्रवादी धारणा बुर्जुआ धारणाओं की चौहद्दी तक सीमित थी यानी स्वतंत्र आर्थिक विकास की परिकल्पना पूँजीवादी ढाँचे में ही की जाती थी। 1919 के बाद, जब राष्ट्रीय आंदोलन जनांदोलन बन गया। गांधी जी ने एक अलग गैर-पूँजीवादी, मूलतः- किसानों और दस्तकारों पर आधारित आर्थिक दृष्टि विकसित की तथा उसका प्रचार किया, लेकिन उनके सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम या विचारधारा में यह क्षमता नहीं थी कि वह राष्ट्रीय आंदोलन पर बुर्जुआ वर्चस्व को चुनौती दे सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन पूरी तरह से जनांदोलन था जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध छेड़ा गया था। फलतः इस आंदोलन में भारतीय समाज के सभी वर्ग शामिल थे। इस संदर्भ में यह गौरतलब है कि यद्यपि सभी भारतीय उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष ऐक्य बद्ध थे, परन्तु साथ ही वे विभिन्न सामाजिक वर्गों में बँटे हुए भी थे। इन सामाजिक वर्गों के अपने अंतर्विरोध थे। इसके साथ ही वर्गों तथा समूहों का उपनिवेशवाद से अलग-अलग स्तर पर तथा अलग-अलग हद तक टकराव था और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में उनकी हिस्सेदारी का स्वरूप भी अलग-अलग था। अतः इस संघर्ष के परिणामस्वरूप जो समाज स्थापित होता, वह वर्गीय दृष्टिकोण से कई तरह का हो सकता था। साम्राज्यवाद से भारतीय जनता का जो केंद्रीय अंतर्विरोध था, उसके सुलझने पर यानी आजादी हासिल होने पर भारत समाजवादी देश भी हो सकता था और मूलतः पूँजीवादी, पर समाजवादी ढंग का देश भी। 1920 के दशक से ही राष्ट्रीय आंदोलन में एक

शक्तिशाली समाजवादी रुझान पैदा हुआ। शुरू के साम्यवादी समूहों, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और समाजवादी विचार के बहुत से समूहों तथा व्यक्तियों ने विकास के उस बर्जुआ दृष्टिकोण को गंभीर चुनौती दी जो राष्ट्रीय आंदोलन का अंग बन चुका था। 1930 के दशक में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी भी जो कम्युनिस्ट पार्टी और मानवेंद्र नाथ राय के अनुयायियों का संगठन थी, इस धारा में शामिल हो गई। उसने समाजवादी विचारों का और भी गहनता से प्रचार किया। 1930 के दशक में पूँजीवादी दुनिया की विराट मंदी, रूसी क्रांति और सोवियत रूस में पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता तथा दुनिया भर में फासीवाद-विरोधी लहर ने समाजवादी विचारों में नया आकर्षण पैदा कर दिया। 1920 के दशकांत में युवा आंदोलन के अधिकांश नेता तथा अनेक क्रांतिकारी आतंकवादी समाजवाद की ओर मुड़ चुके थे। इस तरह 1920 से 1940 के दशकों के दौरान युवा राष्ट्रवादी कार्यकर्ता तेजी से समाजवादी विचारों की ओर आकर्षित हो रहे थे।ⁱⁱ

वामपंथियों ने यह विचार फैलाने की कोशिश किया, कि भारत में किसानों और भूमिपतियों तथा मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच सतत्वर्ग संघर्ष चल रहा है। उन्होंने किसान सभाओं और श्रमिक यूनियनों के अपने वर्ग संगठनों द्वारा इन संघर्षों को व्यवस्थित रूप देने की भी कोशिश की। लेकिन उनका प्रमुख मुद्दा था राष्ट्रीय आंदोलन को वामपंथी, समाजवादी दिशा प्रदान करना, आजादी के बाद के भारत के समाजवादी 'विजन' का प्रचार करना। समाजवादी भारत के 'विजन' को लोकप्रिय बनाने में जवाहरलाल नेहरू ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नेहरू का कहना था कि राजनीतिक आजादी जनता की आर्थिक मुक्ति के बिना बेकार है। 1930 के पूरे दशक में वे तत्कालीन राष्ट्रवादी विचारधारा की अपर्याप्तता की ओर संकेत करते रहे और उस पर बर्जुआ विचारों के वर्चस्व की आलोचना करते रहे। उनका जोर इस बात पर था कि- राष्ट्रीय आंदोलन में एक नई, समाजवादी-बुनियादी रूप से मार्क्सवादी विचार धारा को प्रमुख स्थान दिया जाए, ताकि लोग अपनी सामाजिक स्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और कांग्रेस को समाजवादी विचारधारा का वाहक बना सकें। इस मामले में 1930 का दशक काफी अनुकूल साबित हुआ। यद्यपि वामपंथी समूह और समाजवादी विचार काफी तेजी से फैले, पर वे राष्ट्रीय आंदोलन में प्रभावशाली शक्ति नहीं बन सकें। हाँ, उन्हें इतनी सफलता जरूर मिली कि वे राष्ट्रीय आंदोलन का एक बुनियादी अंग बन गए और उसे लगातार वामपंथी रुझान देते रहे। फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी

तत्त्व बढ़ता गया। 1930 के दशकांत तक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन सर्वाधिक क्रांतिकारी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में से एक बन चुका था।ⁱⁱⁱ यह क्रांतिकारिता कराची, लखनऊ और जयपुर (1931 और 1936) के कांग्रेस प्रस्तावों, 1936 और 1945-46 के चुनाव घोषणा पत्रों तथा 1937-39 के बाद के कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा किए गए आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों में भली-भाँति व्यक्त हुई। सच तो यह है कि कांग्रेस लगातार सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्रांतिकारिता की दिशा में बढ़ती गई। वामपंथी जो भी माँगें पेश करते, उन्हें कुछ वर्षोंके अंतराल के बाद वह अपने कार्यक्रम में शामिल कर लेती। उस के इस विकास में वामपंथी राजनीति तथा मजदूरों-किसानों के संघर्षों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका एक नतीजा यह भी निकला कि कांग्रेस के दक्षिणपंथ में भी, जो समाजवाद का विरोधी था राजनीतिक और आर्थिक सत्ता में बुनियादी तब्दीलियों के प्रति प्रतिबद्धता पैदा हो गई। उसका दृष्टिकोण बुर्जुआ वाला ही रहा, लेकिन उसका रुख सुधारवादी हो गया।^{iv}

यदि हम कांग्रेस की कृषि नीति के विकास पर गौर करें, तो यह बात साफ हो जाएगी। आखिर भारत का केंद्रीय सवाल तो किसानों की सामाजिक स्थिति से ही खड़ा हुआ था। कांग्रेस ने किसानों की माँगों को लेकर औपनिवेशिक राज्य से हमेशा संघर्ष किया था लेकिन वामपंथ और किसान आंदोलन के अंकुश से कांग्रेस ने 1936 में अपने फैजपुर सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें लगान और भूराजस्व की दरों में भारी कमी, सामंती व सुलियों और बेगार के खात्मे, काश्तकारी की अवधि के निर्धारण तथा खेतिहर मजदूरों के लिए जीने लायक मजदूरी का कार्यक्रम अपनाया गया था। कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा तथा सूदखोरों द्वारा की जा रही लूट को रोकने के लिए कानून बनाए, जो कुछ प्रांतों में ज्यादा कठोर थे और कुछ प्रांतों में कम कठोर अंततः 1945 में कांग्रेस कार्यसमिति ने जमींदारी के खात्मे की नीति स्वीकार की और यह मानते हुए कि जमीन उसकी है, जो उसे जोते, घोषित किया कि “भूमिप्रणाली के सुधार में यह शामिल है कि किसान और राज्य के बीच के सभी बिचौलियों को समाप्त कर दिया जाए।”^v

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषणके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है क्योंकि भारतीयों का एक मात्र उद्देश्य देश को आजाद कराना ही नहीं था अपितु प्रत्येक वर्ष 44 : अंक 1-4 (संयुक्तांक)

[156]

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी दृष्टि
व्यक्ति के कल्याण के साथ गुलामी से मुक्ति का पवित्र उद्देश्य था जो कि
सामाजवादी दृष्टिकोण को इंगित करता है।

नैसारा, गाजीपुर,
उत्तर प्रदेश

संदर्भ-ग्रन्थ

-
- i चन्द्र बिपिन, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1990, पृ. 501
 - ii सरकार सुमित, *आधुनिक भारत 1885-1947*, नई दिल्ली, 1983, पृ. 66
 - iii देसाई ए. आर., *भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि*, मुम्बई प्रेस, 1959, पृ. 96
 - iv गोपाल एस., *भारत का इतिहास*, नेचुरल प्रकाशन, 1990, पृ. 77
 - v ग्लोवर बी. एल., *आधुनिक भारत का इतिहास*, मुम्बई प्रकाशन, 1966, पृ. 166

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम : संस्कृति

लेखक : डॉ० आलोक टण्डन,

प्रकाशक : सेतु प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण 2025; पृष्ठ संख्या 106, मूल्य: 150 रुपये

नीरज कुमार पाण्डेय

मानव अपने जीवन में प्रायः अनेक प्रश्नों तथा समस्याओं से टकराता है और उसका समाधान तलाशता है। यद्यपि इस प्रक्रिया में सोच-विचार की भूमिका अवश्य होती है, तथापि वह उसे गहन चिन्तन के लिए बाध्य करे, ऐसा आवश्यक नहीं है। जगत् तथा उसमें अपनी स्थिति के सन्दर्भ में जब मनुष्य गहन तथा विशद स्तर पर जिज्ञासा करता है, तब उसका चिन्तन दार्शनिक रूप ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः यह जिज्ञासा ही अनेक गूढ़ प्रश्नों के रूप में उपस्थित होकर दार्शनिक चिन्तन को एक विस्तृत आयाम तथा नवीन दृष्टि प्रदान करती है। पुनश्च, कोई भी चिंतक बिना समस्याओं को उठाये उनका समाधान खोज नहीं सकता। डॉ. आलोक टण्डन द्वारा प्रणीत संस्कृति इन्हीं समस्याओं की पूर्ति की दिशा में एक सफल एवं स्तुत्य प्रयास है।

आलोच्य पुस्तक में डॉ. टण्डन द्वारा संस्कृत संबंधित कुल 32 समस्याओं पर विचार किया गया है तथा पुस्तक के अंत में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-सूची भी दी गई है। इन समस्याओं का सम्यक विवेचन करने के लिए उन्हें पाँच भागों - संस्कृति को आखिर कैसे समझे, आधुनिकता और संस्कृति, संस्कृति और भूमंडलीकरण, सांस्कृतिक अन्य की समस्या तथा और अंत में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम भाग

में संस्कृति शब्द विश्लेषणके साथ संस्कृति और सभ्यता , संस्कृति और परंपरा , संस्कृति और धर्म, संस्कृति और सत्ता के साथ ही सांस्कृतिक वर्चस्व और सांस्कृतिक अस्मिता के साथ ही आंतरिक उपनिवेशीकरण के अंतर्गत बाह्यार्थवाद समस्याओं का विवेचन किया गया है। द्वितीय भाग में आधुनिकता और संस्कृति के बीच जो विरोध दिखाई देता है उनमें से क्या आधुनिकता के उदय के साथ-साथ प्राचीन संस्कृतियों के अस्तित्व या संस्कृति की आंतरिक शक्ति आधुनिकता के साथ तालमेल बैठाने में साक्षमता की बात हो जिसमें मूलतत्त्ववाद, पुनरुत्थानवाद एवं धार्मिक आतंकवाद तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि जैसी समस्याओं को प्रमुखता से उद्धटित किया गया है। तृतीय भाग में संस्कृति और भूमंडलीकरण के अंतर्संबंधों के प्रत्ययों को समझने तथा भूमंडलीकरण और हमारी सांस्कृतिक अस्मिता के खतरों की समस्या को उजागर कर नव-संस्कृति उपनिवेशवाद की समस्या के साथ लेखक ने विश्व संस्कृति बाजार और संचार के साथ स्थानीय अस्मिताओं की समस्याओं का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ भाग में सांस्कृतिक अन्य की समस्या के अंतर्गत भौतिक संसाधनों से समृद्ध भूमंडलीकरण के अनेक सिद्धांतों जैसे - सर्व समावेशीवाद, बहुसंस्कृतिवाद, अंतरसंस्कृतिवाद, पारसंस्कृतिवाद जैसे व्यवहारिक सिद्धांतों के साथ परमार्थिक सिद्धांतों की भी चर्चा की गई है। पंचम भाग में लेखक ने भारतीय संस्कृति को समझने के लिए वेद, उपनिषद, बौद्ध - जैन मनुस्मृति, पुराण आदि के साथ की क्या भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है ? इसके सनातन स्वरूप को समझने के लिए सनातनता बनाम ऐतिहासिकता, भौतिकवाद की परंपरा, रामायण - महाभारत में सांस्कृतिक चेतना, तुलसीदास के रामचरितमानस, इस्लाम का प्रभाव भक्ति आंदोलन, भारतीय नवजागरण के साथ वर्तमान सांस्कृतिक संकट आदि प्रकार के समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। इसके अंत में लेखक ने लिखा "और अंत में" गांधी के एक वक्तव्य से की अंत में मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों तर से ऊंची दीवारों से घिरा हो और मेरी खिड़कियां बंद रहे। मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृतियाँ, जितना संभव हो

मेरे घर के आसपास से उन्मुक्त होकर गुजरती रहें। लेकिन किसी की आँधी में मेरे पैर उखड़ जाए, यह मुझे मंजूर नहीं। वर्तमान स्थिति में किसी भी संस्कृति को समझना और उनकी चुनौतियों का सामना करने के लिए यह पुस्तक हमें एक सक्षम दृष्टि देने का प्रयास करती है। संस्कृति वह नहीं है जो सिर्फ हमें सिखाए बल्कि वह भी होती है जो आने वाले भविष्य को भी सिखाती है।

भाषा की सहजता एवं प्राज्वलता पुस्तक की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। अत्यंत दुरूह एवं सम्प्रत्ययात्मक समस्याओं को सुबोध शैली में प्रस्तुत करना निश्चित रूप से उनकी असाधारण सफलता है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक छात्रों, शोधार्थियों तथा दर्शन के सुधी पाठकों के लिए समान रूप से उपादेय एवं मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

सहायक आचार्य
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज